धर्म्मतत्त्व।

राय बङ्किमचन्द्र चटरजी बहादुर लिखित,

और

बाबू महावीरप्रसाद द्वारा

अनुवादित।

कलकत्ता,

नं० ९७ मुक्ताराम बाबू स्ट्रीट।

"भारतमित्र" प्रेसमें बाबू नवलकिशोर गुप्त

द्वारा

मुद्रित और प्रकाशित।

सं० १९६८ ।

—:0.—

धर्म्मतत्त्व।

राय बङ्किमचन्द्र चटरजी बहादुर लिखित,

और

बाबू महावीरप्रसाद द्वारा

अनुवादित।

कलकत्ता,

नं० ९७ मुक्ताराम बाबू स्ट्रीट।

"भारतमित्र" प्रेसमें बाबू नवलकिशोर गुप्त

द्वारा

मुद्रित और प्रकाशित।

सं० १९६८

—:0:—

ग्रंथकारकी भूमिका ।

ग्रंथकी भूमिकामें जो बातें कहनेकी होती हैं, वे मैंने ग्रंथमेंही लिख दी हैं । जो लोग पुस्तककी केवल भूमिका देखकर ही उसका पढ़ना वा न पढ़ना निश्चय करते हैं, उनके इस ग्रंथके पढ़नेकी बहुत कम सम्भावना है । इसलिये भूमिकामें मेरे कुछ विशेष कहनेका प्रयोजन नहीं है ।

सिवा, ग्रंथके पहले दस अध्याय एक प्रकारसे भूमिका ही हैं । मेरे कहे हुए अनुशीलनतत्त्वकी प्रधान बातें ११ वें अध्यायमें हैं । दूसरी भूमिकाका कोई प्रयोजन नहीं है ।

ये १० अध्याय नीरस और बीच बीचमें दुरूह हैं इस दोषको स्वीकार करना ही मेरी भूमिकाका उद्देश्य है । ९ वां अध्याय बहुत ही नीरस और दुरूह है । श्रेणीविशेषके पाठक ९ वां अध्याय छोड़कर भी पढ़ सकते हैं ।

प्रधानतः शिक्षाप्राप्त पाठकोंके लिये यह ग्रंथ लिखा गया है । इसलिये सर्वत्र सब बातें विशदरूपसे नहीं समझायी गयीं । और इसी निमित्त जगह जगह अंग्रेजी और संस्कृतका अनुवाद नहीं लिखा गया । इस ग्रंथका कुछ अंश नवजीवनमें प्रकाशित हुआ था, वह भी कुछ कुछ बदला गया है ।

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

धर्म्मतत्त्व ।

अनुशीलन

पहला अध्याय—दुःख क्या है ?

गुरु । वाचस्पतिजीका क्या हाल है ? वे अच्छे हो गये ?

शिष्य । वे तो काशी चले गये ।

गुरु । कब तक आवेंगे ?

शिष्य । अब नहीं आवेंगे ; गृहत्यागी हो गये ।

गुरु । क्यों ?

शिष्य । किस सुखके लिये घर आवेंगे ?

गुरु । दुःख क्या है ?

शिष्य । दुःख ही दुःख ही तो है, और दुःख क्या होगा ? आपको कहते सुना है कि धर्म्ममें ही सुख है और यह बात सब लोग मानते हैं कि बाचस्पतिजी बड़े भारी धार्म्मिक हैं । किन्तु यह भी सब लोग देखते हैं कि उनके ऐसा दुखी और कोई नहीं है ।

गुरु । या तो उनको कोई दुःख नहीं है या वे धार्म्मिक नहीं हैं ।

शिष्य । उनको कोई दुःख नहीं है ? आप क्या कहते हैं ? वे जन्मसे दरिद्र हैं ; खानेको अन्न नहीं मिलता ; तिस पर उग्र विषम रोगका कष्ट है ; ऊपरसे घर जल गया । दुःख और किसे कहते हैं ?

गुरु । वे धार्म्मिक नहीं हैं ।

शिष्य। ऐं ? क्या आप कहते हैं कि ये दरिद्रता, बीमारी और गृहदाह सब अधर्म्मके फल हैं ?

गुरु। हां।

शिष्य। पूर्व जन्मके ?

गुरु। पूर्व जन्मसे क्या मतलब है, इस जन्मके ही अधर्म्मके फल हैं।

शिष्य। क्या आप यह भी मानते हैं कि इसी जन्मके अधर्म्मसे बीमारी होती है ?

गुरु। मैं भी मानता हूं, तुम भी मानते हो। तुम क्या यह बात नहीं मानते कि ठंड लगने देनेसे सर्दी होती है, कड़ी चीज खानेसे बदहजमी होती है ?

शिष्य। ठंड लगने देना क्या अधर्म्म है ?

गुरु। दूसरे धर्म्मोंकी तरह एक शारीरिक धर्म्म है। ठंड लगना उसका विरोधी है। इससे ठंड लगाना अधर्म्म है।

शिष्य। यहां धर्म्मके माने hygiene है ?

गुरु। जो शारीरिक नियम विरुद्ध है वह शारीरिक अधर्म्म है।

शिष्य। धर्म्म अधर्म्म क्या स्वाभाविक नियमोंका मानना और तोड़ना है ?

गुरु। धर्म्म अधर्म्म इतने थोड़ेमें समझनेकी बात नहीं है। ऐसा होता तो धर्म्मतत्त्व वैज्ञानिकोंके हाथमें रखनेसे ही काम चल जाता। अलबत्ते ठंड लगनेके बारेमें इतना ही कह सकते हैं।

शिष्य। अच्छा यही सही। वाचस्पतिजीकी दरिद्रता किस पापका फल है ?

गुरु। पहले दरिद्रताका दुःख अच्छी तरहसे समझना चाहिये। उनको क्या दुःख है ?

शिष्य। खानेको नहीं मिलता।

गुरु। यह दुःख उनको नहीं है। क्योंकि वे अगर खानेको न पाते तो कभीके मर गये होते।

शिष्य। मान लीजिये कि परिवार भर मोटे चावलका भात और साग खाकर रहता है।

गुरु। वह शरीरपोषण और रक्षाके लिये यथेष्ट न हो तो अलबत्ते दुःख है। किन्तु यदि शारीरिक और मानसिक पुष्टिके लिये वह यथेष्ट हो तो उससे अधिक न मिलनेसे दुःख मानना धार्म्मिकका लक्षण नहीं है, पेटूका लक्षण है। पेटू आदमी अधार्म्मिक है।

शिष्य। वे फटे पुराने कपड़े पहनते हैं।

गुरु। वस्त्रसे लज्जानिवारण होना ही धार्म्मिकके लिये यथेष्ट है। जाड़ेमें जाड़ा भी न लगने देना चाहिये। सो मोटे कम्बलसे भी होता है। यह क्या वाचस्पतिजीको नहीं मिलता ?

शिष्य। मिल सकता है। किन्तु उनकी घरवाली आप जल भर लाती है, बर्त्तन मांजती है और झाड़ू बहारू करती है।

गुरु। शारीरिक परिश्रम ईश्वरका नियम है। जो उसे नहीं पसन्द करता वह अधार्म्मिक है। मैं यह नहीं कहता कि धनका कुछ काम नहीं है, अथवा जो धन कमाता है वह अधार्म्मिक है। बल्कि जो आदमी समाजमें रहकर धन कमानेके लिये यथा नियम यत्न नहीं करता उसे अधार्म्मिक कहता हूं। मेरे कहनेका मतलब यह है कि साधारणतः जो लोग अपनेको दरिद्रतासे दुखी समझते हैं उनकी कुशिक्षा और कुवासना अर्थात् अधर्म्मका संस्कार ही उनके कष्टका कारण है। अनुचित भोगलालसा बहुतोंके दुःखका कारण है।

शिष्य। पृथिवी पर क्या कोई ऐसा नहीं है जिसके लिये दरिद्रता सचमुच दुःख हो ?

गुरु। बहुत हैं, करोड़ों हैं। जो लोग शरीररक्षाके लिये अन्न वस्त्र नहीं पाते, आश्रय नहीं पाते वे ही सच्चे दरिद्र हैं। उनकी दरिद्रता अलबत्ते दुःख है।

शिष्य। वह दरिद्रता भी क्या उनके इसी जन्मके किये हुए अधर्म्मका भोग है ?

गुरु। निस्सन्देह।*

---

* आदमीको जो जो दुःख हैं उनका कारण अपने कर्म्मके सिवा और भी कुछ है। यह बात अन्यत्र कही गयी है।

शिष्य । दरिद्रता किस अधर्म्मका फल है ?

गुरु । धन कमाने या अन्न वस्त्र घर आदि दरकारी चीजें संग्रह करने योग्य हममें कुछ शारीरिक और मानसिक शक्तियां हैं । जिन्होंने उनका भलीभांति अनुशीलन नहीं किया है या जो भली-भांति उनसे काम नहीं लेते वे ही दरिद्र हैं ।

शिष्य । तब जान पड़ता है कि आपकी रायमें अपनी अपनी शारीरिक और मानसिकशक्तियोंका अनुशीलन और काममें लाना ही धर्म्म है और उसके विपरीत ही अधर्म्म है ।

गुरु । धर्म्मतत्त्व सबसे बड़ा तत्त्व है, वह इतने थोड़ेमें पूरा नहीं हो जाता । किन्तु अगर मान लो कि यही कहा जाय तब ?

शिष्य । यह तो विलायती Doctrine of Culture है ।

गुरु । Culture विलायती वस्तु नहीं है । यह हिन्दू धर्म्मका सारांश है ।

शिष्य । ऐं ? Culture शब्दका एक भी प्रतिशब्द तो हमारी किसी देशी भाषामें नहीं है ।

गुरु । हम लोग केवल बात ढूंढते हैं, असली चीज नहीं ढूंढते, इसीसे हम लोगोंकी यह दशा है । द्विजातिके चतुराश्रमको क्या समझते हो ?

शिष्य । System of Culture ?

गुरु । हां ; वह भी ऐसा कि जिसे तुम्हारे Matthew Arnold आदि विलायती अनुशीलनवादियोंको समझनेकी शक्ति है या नहीं इसमें सन्देह है । सधवाके पतिदेवताकी उपासनामें, विधवाके ब्रह्मचर्य्यमें, सब व्रतोंके नियमोंमें, तान्त्रिक अनुष्ठानोंमें और योगमें अनुशीलन भरा हुआ है । अगर कभी यह तत्त्व तुमको समझा सका तो तुम देखोगे कि श्रीमद्भगवद्गीतामें जो परम पवित्र अमृतमय धर्म्म कहा है वह इसी अनुशीलनतत्त्वके ऊपर है ।

शिष्य । आपकी बात सुनकर आपसे कुछ अनुशीलनतत्त्व सुननेकी इच्छा होती है ; किन्तु जहां तक मेरी समझ है पाश्चात्य

अनुशीलनतत्त्व तो नास्तिकोंका मत है। यहां तक कि निरीश्वर कोमतधर्म्म अनुशीलनकी अनुष्ठानपद्धति मात्र ही जान पड़ता है।

गुरु। यह बात बहुत ठीक है। विलायती अनुशीलन तत्त्व निरीश्वर होनेसे अधूरा और कच्चा है अथवा अधूरा या अपरिचित होनेसे ही निरीश्वर है यह बात ठीक ठीक नहीं जान पड़ती। किन्तु हिन्दू परम भक्त हैं, उनका अनुशीलन तत्त्व जगदीश्वरके चरण कमलमें ही समर्पित है।

शिष्य। क्योंकि उसका उद्देश्य मुक्ति है। विलायती अनुशीलन-तत्त्वका उद्देश्य सुख है। यह बात ठीक है कि नहीं ?

गुरु। पहले यह देखो कि सुख और मुक्तिको अलग अलग समझना चाहिये कि नहीं। मुक्ति क्या सुख नहीं है ?

शिष्य। पहले तो मुक्ति सुख नहीं, सुख दुःख मात्रका अभाव है। दूसरे यदि मुक्तिको एक विशेष सुख कहें भी तो सुख मात्र मुक्ति नहीं है। मैं दो मिठाई खानेसे सुखी होता हूं, उससे क्या मुझे मुक्ति मिल जाती है ?

गुरु। तुमने बड़ी उलझनकी बात उठायी है। पहले सुख और मुक्तिको समझना होगा, नहीं तो अनुशीलनतत्त्व समझमें नहीं आवेगा। आज अब समय नहीं है, सन्ध्या हो गयी ; चलो पौधोंको सींचें, कल वह प्रसङ्ग छेड़ा जायगा।

दूसरा अध्याय—सुख क्या है ?

—०*०—

शिष्य। कल आपकी बातोंसे यह समझा कि हमारी शारीरिक और मानसिक शक्तियोंका भलीभांति अनुशीलन न होना ही हमारे दुःखका कारण है। यही न ?

गुरु। हां, तब ?

शिष्य। मैंने कहा था कि वाचस्पतिजीके देशत्यागका एक कारण उनका घर जल जाना है। आग किसके दोषसे कैसे लगी यह कोई नहीं कह सकता; किन्तु यह एक तरहसे निश्चय है कि वाचस्पतिजीके दोषसे नहीं लगी। उनके किस अनुशीलनके बिना घर जल गया?

गुरु। अनुशीलनतत्त्व बिना समझेही यह बात कैसे समझोगे? सुख दुःख मानसिक अवस्था मात्र हैं; सुख दुःखका कोई बाहरी अस्तित्व नहीं है। यह बात तुम मानते हो कि मानसिक अवस्था मात्र ही पूर्ण रूपसे अनुशीलनके अधीन हैं।* और यह भी समझ सकते हो कि सब मानसिक शक्तियोंका यथा नियम अनुशीलन होनेसे घरका जलना दुःख नहीं मालूम होगा।

शिष्य। अर्थात् वैराग्य आनेसे दुःख नहीं मालूम होगा। क्या गजब है!

गुरु। सचराचर जिसको वैराग्य कहते हैं वह गजब हो सकता है; किन्तु उसकी बात कहां हो रही है?

शिष्य। क्यों नहीं हो रही है? हिन्दूधर्म्मका खिंचाव उधर ही है। सांख्यकार कहते हैं कि तीन प्रकारके दुःखोंकी अत्यन्त निवृत्ति परम पुरुषार्थ है। आगे एक जगह कहते हैं, सुख इतना थोड़ा है कि उसे भी दुःखमें ही शामिल कर लो। अर्थात् सुख दुःख सब छोड़कर उद्विग्न बन जाओ। आपका गीतावाला धर्म्म भी यही कहता है, सर्दी गर्मीके सुख दुःखादि झगड़ोंको एक समान समझो। यदि सुखसे सुखी न हुए तो जीनेसे क्या काम है? यदि धर्म्मका उद्देश्य सुख त्यागना हो तो मैं वैसा धर्म्म नहीं चाहता। और अनुशीलनतत्त्वका उद्देश्य यदि ऐसा ही धर्म्म हो तो मैं अनुशीलनतत्त्व सुनना नहीं चाहता।

* सुख दुःखका बाहरी अस्तित्व न होने पर भी यह मानना पड़ेगा कि दोनों ही बाहरी अस्तित्वयुक्त कारणके अधीन हैं। तौभी यह बात अप्रमाणित नहीं होती कि सुख दुःख रूपी मानसिक अवस्था अनुशीलनके अधीन है।

गुरु। इतना क्रोध करनेका कोई कारण नहीं है। हमारे इस अनुशीलनतत्त्वमें तुम्हें मिठाई खानेका निषेध नहीं होगा बल्कि विधि हो रहेगी। सांख्य दर्शनको धर्म्म मानकर ग्रहण करनेका तुम्हें उपदेश नहीं देता हूं। सर्दी गर्मीके सुख दुःखादि झगड़े सम्बन्धी उपदेशका भी यह अर्थ नहीं है कि मनुष्यको सुख नहीं भोगना चाहिये। उसका क्या अर्थ है सो अभी जाननेकी जरूरत नहीं है। तुमने कल कहा था कि विलायती अनुशीलनका उद्देश्य सुख और भारतवर्षीय अनुशीलनका उद्देश्य मुक्ति है। मैं इसके उत्तरमें कहता हूं कि मुक्ति सुखकी एक विशेष अवस्था है, सुखकी पूरी मात्रा और चरम सीमा है। अगर यह बात ठीक है तो भारतवर्षीय अनुशीलनका उद्देश्य भी सुख है।

शिष्य। अर्थात् इस लोकमें सुख और परलोकमें सुख?

गुरु। नहीं जी इसलोकमें भी सुख और परलोकमें भी सुख।

शिष्य। किन्तु मेरी शङ्काका उत्तर नहीं हुआ। मैंने कहा था कि जीव मुक्त होनेपर सुख दुःखसे परे हो जाता है। सुख रहित अवस्थाको सुख कैसे कहूं?

गुरु। इस शङ्काके खण्डनके लिये यह जानना दरकार है कि सुख क्या है और मुक्ति क्या है। अभी मुक्तिकी बात रहे; पहले यह देखा जाय कि सुख क्या है।

शिष्य। कहिये।

गुरु। तुमने कल कहा था कि जो मिठाई खानेसे तुम सुखी होते हो। क्यों सुखी होते हो सो समझते हो?

शिष्य। मेरी भूख बुझ जाती है।

गुरु। मुट्ठीभर सूखा चना चबानेसे भी तो भूख बुझती है। मिठाई खानेमें तुमको जितना सुख मालूम होता है क्या उतना ही सुख सूखा चना चबानेमें भी मालूम होता है?

शिष्य। नहीं। मिठाई खानेमें अधिक सुख मालूम होता है।

गुरु। क्यों?

शिष्य। मिठाईके उपादानसे मनुष्यकी जीभका ऐसा कोई नित्य सम्बन्ध है जिससे मिठाई मीठी लगती है।

गुरु। मीठी उसी कारणसे लगती है किन्तु यह तो पूरा नहीं। मिठाई खानेमें तुम्हें सुख क्यों होता है? मिठाससे सबको सुख नहीं मिलता। तुम किसी असली विलायती साहबको मथुराका पेड़ा या खुर्चन आसानी से नहीं खिला सकोगे। और तुम बिस्कुट खाकर सुखी नहीं होगे। "राबिन्सन क्रूसो" ग्रन्थके फ्राइडे नामक जंगली आदमीकी बात याद है? उस खूंखार जंगलीको नमक मिलाकर पकाया हुआ मांस अच्छा नहीं लगता था। यह सब विचित्रता देखकर समझ जाओगे कि तुम्हें मिठाई खानेमें जो सुख मिलता है वह जीभके साथ घी चीनीके नित्य सम्बन्धके कारण नहीं है। तब कैसे?

शिष्य। अभ्याससे।

गुरु। अभ्यास न कहकर अनुशीलन कहो।

शिष्य। अभ्यास और अनुशीलन क्या एक नहीं हैं?

गुरु। एक न होनेसे ही तो कहता हूं कि अभ्यास न कहकर अनुशीलन कहो।

शिष्य। दोनोंमें क्या भेद है?

गुरु। अभी भेद बतानेका समय नहीं है। अनुशीलन-तत्त्वको भलीभांति बिना समझे भेद समझ नहीं सकोगे। तौभी कुछ सुन रखो। जो रोज कुनैन खाता है उसे उसका स्वाद कैसा लगता है? क्या कभी अच्छा लगता है?

शिष्य। शायद कभी अच्छा नहीं लगता; किन्तु धीरे धीरे कड़वापन सह लेने योग्य हो जाता है।

गुरु। वही अभ्यासका फल है। अनुशीलन शक्तिके अनुकूल और अभ्यास शक्तिके प्रतिकूल है। अनुशीलनका फल शक्तिका विकाश है और अभ्यासका फल शक्तिका विकार। अनुशीलनका परिणाम सुख और अभ्यासका परिणाम सहिष्णुता है। अब मिठाई खानेकी बात याद करो। यहां तुम्हारी चेष्टा स्वाभाविक ही रस चखनेवाली शक्तिके अनुकूल है, इससे तुम्हारी वह शक्ति अनुशीलित हुई है—मिठाई खानेसे तुम सुखी होते हो। यों ही अनुशी-

मनके बलसे तुम बिस्कुट कटलेट खाकर भी सुखी हो सकते हो। दूसरी खाने पीनेकी चीजोंके सम्बन्धमें भी ऐसा ही है।

यह हुई एक इंद्रियसुखकी बात। हम लोगोंकी और भी इद्रियां हैं, उन सबके अनुशीलनसे भी यों ही सुख होता है।

शरीरकी कुछ विशेष शक्तियोंका नाम इन्द्रिय रखा गया है। और भी बहुतसी शारीरिक शक्तियां हैं। जैसे, जिस शक्तिके अनुशीलनसे गाने बजानेके तालका बोध होता है वह भी शारीरिक शक्ति है। अङ्गरेजोंने उसका नाम Muscular Sense रखा है। ऐसी ही और भी शारीरिक शक्तियां हैं। इन सबके अनुशीलनमें भी ऐसा ही सुख है।

इसके सिवा हमारी कुछ मानसिक शक्तियां भी हैं। उनके अनुशीलनका जो फल है वह भी सुख है। यही सुख है, इसके अतिरिक्त और कुछ सुख नहीं है। इसका अभाव दुःख है। समझा ?

शिष्य। नहीं। पहले तो शक्ति शब्दमें ही गड़बड़ है। मान लीजिये कि दया हमारे मनकी एक अवस्था है। उसके अनुशीलनमें सुख है। किन्तु क्या मैं कहूंगा कि दयाशक्तिका अनुशीलन करना होगा ?

गुरु। बेशक शक्ति शब्द गड़बड़ मचानेवाला है। उसके बदले और कोई शब्द आदेश करनेमें मुझे कुछ उज्र नहीं है। पहले बात समझो, पीछे जो नाम रखोगे उसीसे वह समझमें आ जायगी। शरीर एक है और मनभी एक है तौभी इनकी विशेष विशेषक्रियाएं हैं; और इसीसे उन विशेष विशेष क्रियाओंको करनेवाली विशेष विशेष शक्तियोंकी कल्पना करना अवैज्ञानिक नहीं होता। क्योंकि अभी तक उन सब शक्तियोंका मूल एक होने पर भी काममें उनका भेद दिखाई देता है। जो अन्धा है वह देख नहीं सकता किन्तु शब्द सुनता है; जो बहरा है वह शब्द नहीं सुन सकता किन्तु आंखोंसे देखता है। एक आदमी कुछ याद नहीं रख सकता परन्तु वह अच्छी कल्पना करनेवाला कवि निकल आता है। एक कल्पना नहीं कर सकता किन्तु वह बड़ा मेधावी निकल आता

है। किसीमें ईश्वरभक्ति नहीं है परन्तु वह लोगों पर दया करता है; उधर निर्दय आदमीमें भी कुछ कुछ ईश्वरभक्ति देखी जाती है। इसलिये देह और मनकी भिन्न भिन्न शक्ति मानी जा सकती हैं। अलबत्ते स्नेह दया इत्यादिको शक्ति कहना अच्छा नहीं मालूम देता। किन्तु क्या और कोई शब्द है?

शिष्य। बङ्गाली लेखकोंने अङ्गरेजी शब्द facultyका अनुवाद वृत्ति किया है।

गुरु। पातञ्जल आदि दर्शन शास्त्रोंमें वृत्ति शब्दका और ही अर्थ है।

शिष्य। किन्तु वह अर्थ बंगलामें अप्रचलित है। वृत्ति शब्द इसी अर्थमें चल गया है। *

गुरु। तो वृत्तिको ही चलाओ। समझमें आजाना चाहिये। जब तुम लोगोंने morals के मानेमें "नीति" शब्द चलाया है, Science के मानेमें "विज्ञान" चलाया है, तब faculty के मानेमें वृत्ति शब्द चलानेसे कोई दोष नहीं मानेगा।

शिष्य। अब मेरी दूसरी शङ्का सुनिये। आपने कहा है कि वृत्तिका अनुशीलन सुख है किन्तु पानी बिना तृष्णाके अनुशीलनमें दुःख है।

गुरु। ठहरो। वृत्तिके अनुशीलनका फल क्रमशः फुर्ती, अन्तमें पूर्णावस्था और उसके बाद इच्छित वस्तुके मिलनेसे परितृप्ति है। यह फुर्ती और परितृप्ति दोनों ही सुखके लिये आवश्यक हैं।

शिष्य। यह अगर सुख हो तो मैं समझता हूं कि ऐसा सुख मनुष्यके लिये होना उचित नहीं है।

गुरु। क्यों?

शिष्य। इन्द्रियपरायण व्यक्तिको इन्द्रियवृत्तिके अनुशीलन और परितृप्तिमें सुख है। क्या उसका ऐसा ही उद्देश्य होना चाहिये?

गुरु। नहीं। ऐसा नहीं होना चाहिये। नहीं तो इन्द्रियोंकी

* वृत्ति शब्दका ऐसा ही अर्थ हिन्दीमें भी चल गया है। अ०

प्रबलतासे मानसिकवृत्तियोंके उग्र होने और क्रमशः मिट जानेकी सम्भावना है। इस विषयका स्थूल नियम समञ्जस है। इन्द्रियोंका सम्पूर्ण विलोप भी धर्म्मके अनुकूल नहीं है। उनका समञ्जस ही धर्म्मानुकूल है। विलोप और संयममें बड़ा भेद है। यह बात पीछे समझाऊंगा। अभी मोटी बात समझ लो कि वृत्तियोंके अनुशीलनका स्थूल नियम परस्परका समंजस है। समंजस क्या है सो और किसी दिन भलीभांति समझाऊंगा। यहां यह समझाता हूं कि सुखके उपादान क्या हैं।

पहला। शारीरिक और मानसिक वृत्तियोंका अनुशीलन; उससे उत्पन्न हुई फुर्ती, अवस्थाके उपयोगी प्रयोजनसिद्धि और पूर्णता।

दूसरा। उन सबका परस्पर अवस्थायोग्य समंजस।

तीसरा। वैसी अवस्थामें कार्य्य पूरा करके उन सबकी परितृप्ति।

इसके सिवा और किसी प्रकारका सुख नहीं है। मैं और कभी तुम्हें समझा सकता हूं कि योगियोंको योगसे जो सुख मिलता है वह भी इसीमें शामिल है। इसका अभाव ही दुःख है। और कभी तुम्हें यह भी समझा सकता हूं कि वाचस्पतिजीको घर जल जानेका जो दुःख है अथवा उनसे भी अभागे आदमीको पुत्रशोकका जो दुःख होता है वह भी यही दुःख है। मेरी और बातें सुनने पर तुम आप भी समझ सकोगे, समझाना नहीं पड़ेगा।

शिष्य। मान लीजिये कि मैं उसे समझ गया; तौभी मुख्य बात अभी तक नहीं समझी। बात यह होती थी कि मैंने कहा था, वाचस्पतिजी धार्म्मिक व्यक्ति हैं तौभी दुखी हैं। आपने कहा कि वे जब दुखी हैं तब कभी धार्म्मिक नहीं हैं। * आपने अपनी

* पूर्वजोंके किये हुए कर्म्मका फलाफल छोड़कर ऐसा कहना पड़ता है, देशकालपात्रभेद छोड़कर भी ऐसा कहा जा सकता है। उन सब बातोंकी मीमांसामें पड़कर धर्म्मतत्त्व जटिल करनेकी यहां दरकार नहीं है।

बातके प्रमाणमें समझाया कि सुख क्या है और सुखको जानकर मैं समझ गया कि दुःख क्या है। अच्छा, मान लिया कि वाचस्पतिजी सच्चे दुखी नहीं हैं, अथवा अगर उन्हें दुखी कहें तो वे अपने दोषसे दुखी हैं ; अर्थात् अपनी शारीरिक या मानसिक वृत्तियोंके अनुशीलनमें त्रुटि करनेसे ही वे दुःख पाते हैं। किन्तु इससे यह नहीं समझमें आया कि वे अधार्म्मिक हैं। यह तो कुछ समझमें ही नहीं आया कि अनुशीलन तत्त्वके साथ धर्म्माधर्म्मका सम्बन्ध क्या है। अगर कुछ समझ सका हूं तो यही कि अनुशीलन ही धर्म्म है

गुरु। इस समय यही समझ लो। इसके सिवा और एक कठिन बात है उसको समझाये बिना समझ नहीं सकोगे कि अनुशीलनके साथ धर्म्मका क्या सम्बन्ध है। किन्तु वह सबके अन्तमें कहनी पड़ेगी ; क्योंकि अनुशीलनको भलीभांति समझे बिना तुम वह तत्त्व ग्रहण नहीं कर सकोगे।

शिष्य। अनुशीलन धर्म्म है? यह तो नयी बात सुनी!

गुरु। नयी नहीं है। पुरानीका संस्कार मात्र है।

तीसरा अध्याय—धर्म्म क्या है ?

शिष्य। अनुशीलनको धर्म्म कह सकते हैं यह बात समझमें नहीं आती। अनुशीलनका फल सुख है ; क्या धर्म्मका फल भी सुख है ?

गुरु। नहीं तो क्या धर्म्मका फल दुःख है ? यदि ऐसा होता तो मैं संसारके सब लोगोंको धर्म्म छोड़ देनेकी सलाह देता।

शिष्य। धर्म्मका फल परलोकमें सुख हो सकता है किन्तु क्या इस लोकमें भी सुख है ?

गुरु। तब तुम्हें समझाया क्या ? धर्म्मका फल इस लोकमें सुख है और परलोक अगर है तो परलोकमें भी सुख है। धर्म्म

सुखका एक मात्र उपाय है। इहकाल या परकालमें दूसरा कोई उपाय नहीं है।

शिष्य। तौभी गड़बड़ नहीं मिटती। हम लोग कहते हैं, कृस्तानी धर्म्म, बौद्ध धर्म्म, वैष्णव धर्म्म। इसके बदले क्या कृस्तानी अनुशीलन, बौद्ध अनुशीलन, वैष्णव अनुशीलन कहेंगे ?

गुरु। धर्म्म शब्दका अर्थ उलटकर तुमने गड़बड़ मचादी। धर्म्म शब्दका अनेक अर्थोंमे व्यवहार किया जाता है। दूसरे अर्थोंसे हमें मतलब नहीं है।* तुमने जिस अर्थमें इस समय धर्म्म शब्दका व्यवहार किया है वह अङ्गरेजी Religion शब्दका ताजा तरजमा मात्र है, देशी चीज नहीं है।

शिष्य। अच्छा यही समझाइये कि Religion क्या है ?

गुरु। क्यों ? Religion पाश्चात्य शब्द है ; पाश्चात्य पण्डितोंने इसको तरह तरहसे समझाया है ; किसीसे किसीकी राय नहीं मिलती।†

शिष्य। फिर क्या रिलीजनमें ऐसा कोई नित्य पदार्थ नहीं है जो सब रिलीजनोंमें पाया जाता हो ?

गुरु। है। किन्तु उस नित्य पदार्थको रिलीजन कहनेकी दरकार नहीं है। उसको धर्म्म कहनेसे कोई गड़बड़ नहीं रहेगी।

शिष्य। सो कैसे ?

गुरु। सब मनुष्य जातिके लिये—कृस्तान हो चाहे बौद्ध, हिन्दू हो चाहे मुसलमान—सबके लिये जो धर्म्म है।

शिष्य। कैसे उसका पता मिले ?

गुरु। मनुष्यका धर्म्म क्या है, इसकी खोज करनेसे ही पता मिल सकता है।

शिष्य। वही तो पूछना है।

* क चिन्हित क्रोड़पत्र देखो।

† ख चिन्हित क्रोड़पत्र देखो।

गुरु। जिसके होनेसे मनुष्य मनुष्य है, जिसके न होनेसे मनुष्य मनुष्य नहीं है वही मनुष्यका धर्म्म है।

शिष्य। उसका क्या नाम है?

गुरु। मनुष्यत्व।

चौथा अध्याय—मनुष्यत्व क्या है?

शिष्य। कल आपने आज्ञा की थी कि जिसके होनेसे मनुष्य मनुष्य है और न होनेसे मनुष्य मनुष्य नहीं है वही मनुष्यका धर्म्म है। यह कहना केवल बातका पेंच जान पड़ता है। क्योंकि मनुष्य पैदा होनेसे ही मनुष्य है और मरनेके बाद ही मनुष्य नहीं है, केवल राख या धूल है। इसलिये मैं कहूंगा कि जीवन होनेसे ही मनुष्य मनुष्य है, नहीं तो मनुष्य मनुष्य नहीं है। शायद यह आपका मतलब नहीं है।

गुरु। दूध पीते बच्चेके भी जीवन है; वह क्या मनुष्य है?

शिष्य। क्यों नहीं? केवल उमर थोड़ी है। वह छोटा मनुष्य है।

गुरु। मनुष्य जो कुछ कर सकता है क्या वह सब वह भी कर सकता है?

शिष्य। कौनसा काम है जो मनुष्य मात्रसे ही हो सकता हो? यह जो कहारके कंधे पर जलकी बहङ्गी है वह मनुष्य ढोता है। इस्मलिज् या लिडयलकी रणजय मनुष्यने की थी। लियर या कुमारसम्भव मनुष्यने बनाया है, आप मनुष्य हैं। क्या आप यह सब कर सकते हैं? अथवा और किसी मनुष्यका नाम बता सकते हैं जो वह सब काम कर सकता हो?

गुरु। मैं नहीं कर सकता। मैं ऐसे किसी मनुष्यका नाम भी नहीं बता सकता जो यह सब कर सकता हो। परन्तु मैं यह कहनेको तय्यार नहीं हूं कि कभी ऐसा कोई मनुष्य नहीं जन्मेगा जो अकेला यह सब काम नहीं कर सकेगा अथवा ऐसा कोई मनुष्य

कभी नहीं हुआ जो मनुष्यसे होनेवाले सब काम अकेला नहीं कर सकता था।

शिष्य। अगर कर सकता था तो किया क्यों नहीं?

गुरु। किया नहीं अपनी क्षमताके अनुशीलन बिना।

शिष्य। इससे भी कुछ नहीं समझ सका कि क्या होनेसे आदमी आदमी होता है। अपनी शक्तिके अनुशीलनसे? जंगली आदमीको, जिसकी किसी शक्तिका अनुशीलन नहीं हुआ, क्या आप मनुष्य नहीं कहेंगे?

गुरु। ऐसा कोई जंगली नहीं पाओगे जिसकी कोई शक्ति अनुशीलित न हुई हो। पत्थर युगके मनुष्यकी भी कुछ शक्तियां अनुशीलित हुई थीं; नहीं तो वे पत्थरके हथियार नहीं बना सकते। परन्तु बात यह है कि उनको मनुष्य कहेंगे कि नहीं? इसका उत्तर देनेसे पहले समझना है कि वृक्ष क्या है। मनुष्यत्वके समझनेसे पहले समझो कि वृक्षत्व क्या है। यह एक घास देखते हो, और वह बड़का वृक्ष है, क्या दोनों एक जातीय हैं?

शिष्य। हां एक तरहसे एक जातीय हैं। दोनों ही उद्भिद् हैं।

गुरु। दोनोंको वृक्ष कहोगे?

शिष्य। नहीं बड़को वृक्ष कहूंगा, घास तृण है।

गुरु। यह भेद क्यों है?

शिष्य। काण्ड, शाखा, पल्लव, फूल और फल युक्त होनेसे वृक्ष कहलाता है। बटमें ये सब हैं, घासमें नहीं हैं।

गुरु। घासमें भी सब हैं, अलबत्ते वे छोटे हैं, अधूरे हैं। घासको वृक्ष नहीं कहोगे?

शिष्य। घास भी कहीं वृक्ष कहलाती है?

गुरु। अगर घासको वृक्ष नहीं कहते तो जिस मनुष्यकी सब वृत्तियां अनुशीलित होकर पूर्णताको प्राप्त नहीं हुई है उसको भी मनुष्य नहीं कह सकते। घासमें जिस तरह उद्भिदत्व है उसी तरह एक हटेण्टाट या चिपेवामें भी मनुष्यत्व है। किन्तु जिस उद्भि-

तत्वको वृक्षत्व कहते हैं वह जैसे घासमें नहीं है, वैसे ही जो मनुष्यत्व मनुष्य धर्म्म है हटेण्टाट या चिपेवामें वह मनुष्यत्व नही है।

शिष्य। वंश या बीज क्या उसका एक प्रधान कारण नहीं है?

गुरु। वह बात अभी रहने दो। जो अमिश्र (बेमिलावटी) है उसे ही समझो। पीछे जो विमिश्र (मिलावटी) है उसे समझना। वृक्षत्वका उदाहरण मत छोड़ो, उसीसे समझोगे। वह जो बांस देखते हो, उसे वृक्ष कहोगे?

शिष्य। शायद नही कहूंगा। उसमें काष्ठ, शाखा और पत्ते हैं, परन्तु उसमें फूल फल नहीं लगते, वह सर्वाङ्ग पूर्ण नहीं है, उसको वृक्ष नहीं कहूंगा।

गुरु। तुम नादान हो। पचास साठ वर्षों पर एक एक बार उसमें फूल होते हैं। फूलसे चावलके समान फल मिलते हैं। चावलकी तरह उसका भात भी बनता है।

शिष्य। तो बांसको वृक्ष कहूंगा।

गुरु। मगर बांस तृण मात्र है। एक घास उखाड़कर बांससे मिलाओ, दोनोंमें मेल खायगा। उद्भित्तत्त्ववित् पण्डित भी बांसकी गणना तृणकी श्रेणीमें कर गये हैं। इसलिये देखो कि स्फूर्तिके कारण तृण तृणमें कितना भेद है। जिस अवस्थामें मनुष्यकी सर्वाङ्गीन पूर्णता हो जाती है उसी अवस्थाको मनुष्यत्व कहता हूं।

शिष्य। ऐसी पूर्णता क्या धर्म्मके हाथमें है?

गुरु। उद्भिदके यों उत्कर्षकी पूर्णता प्राप्ति कुछ चेष्टाओंका फल है, आम बातचीतमें उसे कर्षण या खेती कहते हैं। यह कर्षण कहीं मनुष्य द्वारा होता है और कहीं प्रकृति द्वारा। एक मामूली उदाहरणसे समझो। तुमसे अगर कोई देवता आकर कहे कि वृक्ष और घास दोनोंको एकत्र पृथिवीपर नहीं रहने देंगे; या तो सब वृक्षोंको नष्ट कर डालेंगे या सब तृणोंको। उस दशामें तुम क्या चाहोगे? वृक्षको रखना चाहिये या घासको?

शिष्य। निस्सन्देह वृक्षको रखूंगा। घास न मिलनेसे गाय

बैलोंको कुछ कष्ट होगा, किन्तु वृक्ष न होनेसे आम, कटहल आदि बढ़िया बढ़िया फल नहीं मिलेंगे।

गुरु। मूर्ख! तृण जातिका संहार होनेसे अन्न बिना मर जाओगे। नहीं जानते हो कि धान और गेहूं भी तृण जातीय हैं। यह जो दिखाई देता है उसे अच्छी तरह देख आओ। धानकी खेती होनेसे पहले धान भी ऐसा ही था। केवल कर्षणसे जीवन-दायिनी लक्ष्मीके समान हुआ है। गेहूंका भी यही हाल है। जिस गोभीकी तरकारीसे ढेरका ढेर अन्न उदरस्थ कर जाते हो वह भी पहली दशामें समुद्र तीरका कड़वा उद्भिद थी, कर्षणसे यह इस अवस्थाको प्राप्त हुई है। उद्भिदके लिये जैसे कर्षण है वैसा ही मनुष्यके लिये अपनी वृत्तियोंका अनुशीलन है; इसीसे अङ्गरेजीमें दोनोंका नाम Culture है। इसी लिये कहा है कि The Substance of Religion is Culture—"मानववृत्तिका उत्कर्षण ही धर्म्म है।"

शिष्य। जो हो; मोटी बात भी कुछ समझमें नहीं आयी। मनुष्यकी सर्वाङ्गीण पूर्णता किसे कहते हैं?

गुरु। अङ्कुरका परिणाम महावृक्ष है—अङ्कुरसे महावृक्षतक बनता है। मट्टी खोदो एक न एक बहुत छोटा, प्रायः न दिखाई देने योग्य अङ्कुर देखोगे। परिणाममें वही अङ्कुर इस विशाल वृक्षके समान वृक्ष होगा। किन्तु इसके लिये उसका कर्षण (किसान जिसे खेती कहते हैं) चाहिये। सरस मट्टी चाहिये, जल न मिलनेसे नहीं होगा। धूप चाहिये, इससे वृक्षकी छायामें रहनेसे नहीं होगा। जो सामग्री वृक्षशरीरके पोषणके लिये दरकार है उसका मट्टीमें होना जरूरी है। विशेष विशेष वृक्षके लिये मट्टीमें खाद देनी चाहिये। घेर चाहिये। इत्यादि। तभी अङ्कुर सुवृक्ष होगा। मनुष्यके लिये भी ऐसाही है। विहित कर्षण अर्थात् अनुशीलनसे वह असली मनुष्यत्व प्राप्त होगा। परिणाममें सर्वगुणयुक्त, सर्वसुख-सम्पन्न मनुष्य हो सकेगा। यही मनुष्यकी पूर्णता वा परिणति है।

शिष्य। कुछ नहीं समझा। क्या सब आदमी सर्वसुखयुक्त, सर्वगुणयुक्त हो सकते हैं?

गुरु। कभी हो सकेंगे कि नहीं यह बात इस समय उठानेकी दरकार नहीं है। उसमें बड़े बड़े बिचार हैं। अलबत्ते यह बात मान लूंगा कि अबतक कोई हुआ है यह बात हम नहीं जानते, और अचानक किसीके होनेकी भी सम्भावना नहीं है। परन्तु मैं जिस धर्म्मकी व्याख्या करता हूं उसपर नियमानुसार चलनेसे यही होगा कि लोग सब गुण पानेका यत्न करनेसे बहुत कुछ गुण पा सकेंगे; सब सुख पानेकी चेष्टा करनेसे बहुत कुछ सुख पा सकेंगे।

शिष्य। मुझे क्षमा कीजिये, मनुष्यकी सर्वाङ्गीण पूर्णता किसे कहते हैं सो अभीतक अच्छी तरह नहीं समझ सका।

गुरु। समझनेकी चेष्टा करो। मनुष्यके दो अङ्ग हैं, एक शरीर, दूसरा मन। शरीरके फिर कई प्रत्यङ्ग हैं; यथा,—हाथ, पैर आदि कर्म्मेन्द्रिय; आंख, कान आदि ज्ञानेन्द्रिय; मगज, कलेजा, वायु-कोष, अंतड़ी आदि जीवनसञ्चालक प्रत्यङ्ग; हड्डी, मज्जा, मेद, मांस, रक्त आदि शारीरिक उपादान और भूख, प्यास आदि शारीरिक वृत्तियां हैं। इन सबकी उचित पूर्णता चाहिये। और मनके भी कई प्रत्यङ्ग—

शिष्य। मनकी बात पीछे सुनूंगा; अभी शारीरिक पूर्णताको भलीभांति समझाइये। शारीरिक प्रत्यङ्गोंकी क्योंकर पूर्णता या परिणति होगी! बच्चेका वह छोटासा दुर्ब्बल हाथ अवस्थाके साथ साथ आप ही बढ़ेगा और बलवान होगा। इसके सिवा और क्या चाहिये?

गुरु। तुम जिस स्वाभाविक पूर्णताकी बात कहते हो उसके दो कारण हैं। मैं भी उन्हीं दोके ऊपर निर्भर करता हूं। वे दो कारण पोषण और परिचालन हैं। अगर किसी बच्चेका एक हाथ उसके कन्धेके पास ऐसा कस कर बांध दो कि हाथमें रक्त दौड़ने न पावे तो वह हाथ और नहीं बढ़ेगा या तो अशक्य हो जायगा या दुर्बल और निकम्मा। क्योंकि जिस लहूसे हाथकी पुष्टि होती है उसे वह नहीं मिलेगा। अच्छा बांधनेकी बात जाने दो, लेकिन ऐसा कुछ बन्दोबस्त करो कि बच्चा कभी हाथ हिला न

सके। तो भी वह हाथ अवश और निकम्मा हो जायगा। और कुछ न हो तो इतना अवश्य होगा कि हाथ चलानेमें जो तेजी जिन्दगीमें दरकार है वह उसको कभी नहीं आवेगी। ऊर्द्धबाहु सन्यासियोंका हाथ देखा है कि नही?

शिष्य। समझा कि अनुशीलन गुणसे बच्चेका कोमल छोटा हाथ पूरी उमरके मनुष्यका विस्तार, बल और तेजी पाता है। किन्तु यह तो सबका आपसे आप होता है। और चाहिये क्या?

गुरु। तुम अपने हाथसे इस बागके मालीका हाथ मिलान करके देखो। तुम अपने हाथकी उंगलियोंमें अनुशीलनसे यह पूर्णता लाये हो कि अभी पांच मिनटमें तुम दो पन्ने कागज लिख डालोगे, किन्तु वह माली दस दिन चेष्टा करने पर भी तुम्हारी तरह एक "क" नहीं लिख सकेगा। तुम बिना सोचे विचारे बेधड़क जहां जिस आकारका जो अक्षर दरकार है वह लिखते जाते हो, यह उसके लिये बड़ा ही आश्चर्यजनक है; उसको अकलमें यह बात नहीं आ सकती। बहुतेरे लिखना जानते हैं, इसीसे सभ्य समाजमें लिपिविद्या लोगोंको आश्चर्य्यदायक अनुशीलन नहीं मालूम होती। किन्तु सच पूछो तो यह लिपिविद्या जादूसे भी बढ़कर अनुशीलन-फल है। देखो, एक शब्द लिखनेके लिये—मान लो कि यही अनुशीलन शब्द लिखनेके लिये—पहले उसका विश्लेषण करके उसके उपादानवाले अक्षरोंको स्थिर करना होगा, विश्लेषणसे समझना होगा अ, न, उ, श, ई, ल, न। इनको पहले केवल कानमें लाना होगा, फिर हरएकको आंखोंसे देखने योग्य अवयव समझकर मनमें लाना होगा। एक एक अक्षर याद आवेगा, फिर एक एकको कागज पर लिखना होगा। पर तुम इतनी जल्दी लिख लेते हो कि मालूम होता है मानो तुम मनमें कुछ सोचते नहीं हो। अनुशीलन गुणसे कितने ही ऐसे असाधारण कौशलमें कुशल हैं। अनुशीलनसे उत्पन्न और भी भेद इस मालीकी तुलनामें ही देखो। तुम जिस तरह पांच मिनटमें दो पन्ने कागज लिख जाओगे वैसे ही माली पांच मिनटमें एक लट्ठा जमीन खोद डालेगा। तुम दो घण्टोंमें क्या, दो पहरोंमें भी उतनी जमीन नहीं खोद सकोगे।

इस विषयमें तुम्हारा हाथ भली भांति चालित अर्थात् अनुशीलित नहीं हुआ है, समुचित पूर्णता प्राप्त नहीं हुआ है। इसलिये तुम्हारा और मालीका दोनोंके हाथ कुछ कुछ अपूर्ण हैं; उन्हें सर्वाङ्गीण पूर्णता प्राप्त नहीं हुई है। अब किसी शिक्षित गवैयेके साथ तुम अपनी तुलना करके देखो। शायद बचपनमें तुम्हारे और गवैयेके गलेमें विशेष भेद नहीं रहा होगा; अनेक गवैयोंका गला स्वभावतः अच्छा नहीं होता। किन्तु अनुशीलन गुणसे गवैया सुकण्ठ हुआ है, उसके गलेकी सर्वाङ्गीण पूर्णता हुई है। और देखो, बताओ तुम कै कोस पैदल चल सकते हो?

शिष्य। मैं बहुत नहीं चल सकता, बहुत हो तो एक कोस चल सकता हूं।

गुरु। तुम्हारे पैरोंमें सर्वाङ्गीण पूर्णता नहीं हुई है। देखो, तुम्हारे हाथ, पैर और गला तीनोंकी आपसे आप पुष्टि और परिणति हुई है, किन्तु एककी भी सर्वाङ्गीण पूर्णता नहीं है। इसी तरह और सब शारीरिक प्रत्यङ्गोंके विषयमें भी जान लो; शारीरिक प्रत्यङ्ग मात्रमें सर्वाङ्गीण पूर्णता आये बिना नहीं कहा जा सकता कि शारीरिक सर्वाङ्गीण पूर्णता हुई है; क्योंकि अधूरे अंशोंकी पूर्णता ही सोलहो आने पूर्णता है। एक आनेमें आधा पैसा कम होनेसे समूचे रुपयेमें कमी आ जाती है। जैसा शरीरके विषयमें समझाया वैसा ही मनके विषयमें भी जानना। मनके भी बहुतसे प्रत्यङ्ग हैं। उन्हींको वृत्ति कहा है। कुछका काम ज्ञानोपार्जन और विचार है। कुछका काम काममें जी लगाना है; यथा भक्ति, प्रीति, दया आदि। और कुछका काम आनन्दका उपभोग, हृदयमें सौन्दर्य्य ग्रहण, रस ग्रहण, चित्त विनोदन है। इन तीन तरहकी मानसिक वृत्तियोंकी पुष्टि और संपूर्ण विकाशही मानसिक सर्वांगीण पूर्णता है।

शिष्य। अर्थात् ज्ञानमें पाण्डित्य, विचारमें दक्षता, कार्य्यमें तत्परता, चित्तमें धर्म्मात्मता और सुरसमें रसिकता होने पर मानसिक सर्वाङ्गीण पूर्णता होगी। उसके बाद शारीरिक सर्वाङ्गीण पूर्णता है अर्थात् शरीर बलिष्ठ, सुस्थ और सब प्रकार शारीरिक क्रियाओंमें

चतुर होना चाहिये। कृष्ण, अर्जुन और राम लक्ष्मणके सिवा और कोई ऐसा हुआ था कि नहीं सो मालूम नहीं।

गुरु। यह बात मानी नहीं जा सकती कि जो लोग मनुष्य जातिमें सर्वोत्तम हैं, वे चेष्टा करने पर सम्पूर्ण रूपसे मनुष्यत्व प्राप्त नही कर सकेंगे। मुझे अब भी भरोसा है कि युगान्तरमें जब मनुष्य जाति असली उन्नति करेगी तब अनेक मनुष्य इस आदर्शके होंगे। संस्कृत ग्रन्थोंमें प्राचीन भारतवर्षके क्षत्रिय राजाओंका जो वर्णन है उससे पाया जाता है कि उन राजाओंने पूर्ण रूपसे मनुष्यत्व प्राप्त किया था। इसमें सन्देह नहीं कि उक्त वर्णनमें बहुत कुछ इतिहास पुराणादिके रचयिताओंकी कपोल-कल्पना है, किन्तु ऐसा राजगुण वर्णन जहां सर्वत्र हो, वहां यही अनुमान होता है कि ऐसा एक आदर्श उस समयके ब्राह्मण और क्षत्रियोंके सामने था। मैं भी वैसा आदर्श तुम्हारे सामने रखता हूं। जो जैसा होना चाहता है उसके सामने उसका सर्वाङ्गसम्पन्न आदर्श चाहिये। वह ठीक आदर्शके समान चाहे न हो, किन्तु उसके आसपास पहुंचेगा। सोलह आने क्या हैं, यह जाने बिना आठ आने पानेकी कोई इच्छा नहीं करता। जो बालक यह नहीं जानता कि रुपयेमें सोलह आने होते हैं वह उस रुपयेके बदले चार पैसे पाकर ही सन्तुष्ट हो सकता है।

शिष्य। वैसा आदर्श कहां पावें? वैसा मनुष्य तो दिखाई नहीं देता।

गुरु। मनुष्य न हो, ईश्वर हैं। ईश्वर ही सब गुणोंकी सर्वाङ्गीण स्फूर्त्ति और चरम पूर्णताके एकमात्र उदाहरण हैं। इसीसे वेदान्तके निर्गुण ईश्वरमें धर्म्म सम्यक् धर्म्मत्व प्राप्त नहीं होता, क्योंकि जो निर्गुण हैं वे हमारे आदर्श नहीं हो सकते। अद्वैतवादियोंके "एकमेवाद्वितीयम्" चैतन्य अथवा जिसको हर्बर्ट स्पेंसरने "Inscrutable Power in Nature" कह कर ईश्वरके स्थानमें स्थापित किया है अर्थात जो केवल दार्शनिक या वैज्ञानिक ईश्वर हैं उनकी उपासनासे धर्म्म सम्पूर्ण नहीं होता। हमारे इतिहास और पुराणोंमें कहे हुए या क्रिस्तानी धर्म्म पुस्तकोंमें बताये

हुए सगुण ईश्वरकी उपासना ही धर्म्मका मूल है। क्योंकि वे ही हमारे आदर्श हो सकते हैं। जिनको "Impersonal God" कहते हैं उनकी उपासना निष्फल है; जिनको "Personal God" कहते हैं उनकी उपासना सफल है।

शिष्य। माना कि सगुण ईश्वरको आदर्श स्वरूप मानना होगा, किन्तु उपासनाकी दरकार क्या है?

गुरु। ईश्वरको हम नहीं देखते। उनको देख देख कर चलनेको सम्भावना नहीं है। केवल उनको हम मनमें सोच सकते हैं। वह सोचना ही उपासना है। अवश्य ही बेगार टालनेकी तरह सोचनेसे कुछ फल नहीं होता। सन्ध्योपासन करनेमें केवल बुदबुदानेसे कुछ लाभ नहीं है। उनके सब गुणोंसे युक्त विशुद्ध स्वभावके ऊपर चित्तको स्थिर करना होगा। भक्तिभावसे उनका हृदयमें ध्यान करना होगा। प्रीति सहित हृदयको उनके सामने करना होगा। मनमें यह प्रतिज्ञा करनी होगी कि उनके स्वभावके आदर्शपर हमारा स्वभाव बने। तभी उस पवित्र चरित्रकी विमल ज्योति हमारे चरित्र पर पड़ेगी। उनकी निर्म्मलताके समान निर्म्मलता, उनकी शक्तिसे अनुकारी सर्वत्र मङ्गलमय शक्तिकी कामना करनी होगी। उनको सदा अपने पास देखना होगा, उनके स्वभावसे अपना स्वभाव मिलानेकी चेष्टा करनी होगी। अर्थात् उनके सामीप्य, सालोक्य, सारूप्य और सायुज्यकी कामना करनी होगी। तभी हम क्रमसे ईश्वरके निकट होंगे। आर्य्य ऋषि विश्वास करते थे कि तभी हम क्रमसे सारूप्य और सायुज्य पावेंगे। ईश्वरके साथ एक हो जायंगे। ईश्वरमें ही लीन हो जायंगे। उसीको मोक्ष कहते हैं। मोक्ष और कुछ नहीं है, वह ऐश्वरिक आदर्शके स्वभावका पा जाना है। उसके पानेसे ही सब दुःखोंसे मुक्ति हो जाती है और हम सब सुखोंके अधिकारी हो जाते हैं।

शिष्य। अब तक मैं समझता था कि ईश्वर एक समुद्र है, और मैं एक बूंद जल हूं, उसमें जाकर मैं मिल जाऊंगा।

गुरु। उपासना तत्त्वका सार मर्म्म जैसा हिन्दुओंने समझा था वैसा और किसी जातिने नहीं समझा। अब वह परम रमणीय

और सुसार उपासना पद्धति एक ओर आत्मकष्ट और दूसरी ओर मजाककी वस्तु बन गयी है।

शिष्य। अब आप मुझे एक और बात समझाइये। मनुष्योंमें असली मनुष्यत्वका अर्थात् सर्वाङ्गपूर्ण स्वभावका आदर्श नहीं है। इसलिये ईश्वरका ध्यान करना होगा। किन्तु ईश्वर अनन्त स्वभाव है। हम क्षुद्र स्वभाव हैं। उनके गुण संख्यामें अनन्त हैं, विस्तारमें भी अनन्त हैं। जो क्षुद्र है उसका आदर्श अनन्त कैसे होगा? क्या समुद्रके आदर्श पर नाला खोदा जा सकता है? या आकाशके आदर्श पर चंदवा लटकाया जा सकता है?

गुरु। इसीलिये धर्म्मका इतिहास दरकार है। धर्म्मेतिहासमें (Religious History) सच्चे धार्म्मिकोंका चरित्र लिखा रहता है। यह सत्य है कि अनन्त-स्वभाव ईश्वर उपासकका पहली दशामें आदर्श नहीं हो सकते, किन्तु ईश्वरका अनुकारी मनुष्य अर्थात् जो गुणकी अधिकतासे ईश्वर समझे जायं, अथवा जो मानव रूपमें ईश्वर समझे जायं वे ही वह वाञ्छनीय आदर्श हो सकते हैं। इसीसे एक समयमें हजरत ईसा ईसाइयोंका आदर्श थे, शाक्यसिंह बौद्धोंका आदर्श थे। किन्तु ऐसे धर्म्म परिवर्द्धक आदर्श जितने हिन्दू-शास्त्रोंमें हैं उतने पृथिवीके और किसी धर्म्मग्रन्थोंमें नहीं हैं, संसारकी किसी भी जातिमें प्रसिद्ध नहीं हैं। जनकादि राजर्षि, नारदादि देवर्षि, वशिष्ठादि ब्रह्मर्षि, सभी अनुशीलनके चरम आदर्श हैं। इनके अतिरिक्त श्रीरामचन्द्र, युधिष्ठिर, अर्जुन, लक्ष्मण, देवव्रत भीष्म आदि क्षत्रिय गण और भी सम्पूर्णताप्राप्त आदर्श थे। ईसा और शाक्य सिंह केवल उदासीन कोपीनधारी ममताशून्य धर्म्मवेत्ता हैं। किन्तु ये लोग वैसे नहीं हैं। ये सब गुणोंसे युक्त हैं। इन लोगोंमें ही सब वृत्तियां सब प्रकारसे चमक उठी हैं। ये लोग सिंहासन पर बैठकर भी उदासीन हैं; धनुष धारण करके भी धर्म्मवेत्ता हैं; राजा होकर भी पण्डित हैं; शक्तिमान होकर सब लोगों पर प्रेम रखते हैं। किन्तु इन सब आदर्शोंके ऊपर हिन्दुओंका और एक आदर्श है, जिनके सामने और सब आदर्श छोटे हो जाते हैं—

युधिष्ठिरने जिनसे धर्म्म सीखा, स्वयं अर्जुन जिनके शिष्य हुए, राम और लक्ष्मण जिनके अंश मात्र है, जिनके समान महामहिमामय चरित्र कभी मनुष्य भाषामें गाया नहीं गया उन्हीं कृष्णकी उपासनामें आओ, आज हम तुम्हें दीक्षित करें।

शिष्य। क्या? कृष्ण!

गुरु। तुम लोग केवल जयदेवके कृष्णको या रासलीलाके कृष्णको जानते हो, इसीसे चौंकते हो। उसका भी पूरा अर्थ नहीं समझते। उसके पीछे ईश्वरके सब गुणोंसे युक्त जो कृष्ण चरित्र कहा है उसे कुछ भी नहीं समझते। उनकी सब शारीरिक वृत्तियां सब प्रकारसे उत्कर्ष पाकर अनुभव न करने योग्य सुन्दरता और अपरिसीम बलका आधार बन गयी थी। उनकी सब मानसिक वृत्तियां भी वैसी ही उत्कर्ष पाकर अलौकिक विद्या, शिक्षा, तेजस्विता और ज्ञानके रूपमें आ गयी थीं और प्रीतिवृत्ति भी उसीके अनुसार पुष्ट बन जानेसे वे सब लोगोंके सब तरहके हितमें रत हुए। इसीसे उन्होंने कहा है—

परित्राणाय साधूनां विनाशायच दुष्कृताम्।
धर्म्म संरक्षणार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

जिन्होंने बाहुबलसे दुष्टोंका दमन किया है, बुद्धिबलसे भारतवर्षको एक बनाया है, ज्ञान बलसे अपूर्व निष्काम धर्म्मका प्रचार किया है, उनको मैं नमस्कार करता हूं। जिन्होंने केवल प्रेममय होनेके कारण निष्काम होकर ये सब मनुष्योंके दुष्कर कार्य किये हैं, जो बाहुबलसे सर्वजित हुए और दूसरेका साम्राज्य स्थापन करनेवाले होकर भी स्वयं सिंहासन पर नहीं बैठे, जिन्होंने शिशुपालके सौ अपराध क्षमा करके क्षमा गुणका प्रचार करनेके बाद दण्ड देना उचित समझ कर ही उसे दण्ड दिया था, जिन्होंने इस वेदप्रधान देशमें वेदप्रधान समयमें कहा था—"वेदमें धर्म्म नहीं है—धर्म्म लोक हितमें है" वे ईश्वर हों चाहे न हों मैं उनको नमस्कार करता हूं। जो एक साथ ही शाक्यसिंह, ईसा, मुहम्मद और रामचन्द्र थे, जो सब बलोंके आधार, सब गुणोंके आधार, सब धर्म्मोंके जाननेवाले, सर्वत्र

प्रेममय थे, वे ईश्वर हों चाहे न हों मैं उनको नमस्कार करता हूं—

नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः।
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥

पांचवां अध्याय—अनुशीलन।

शिष्य। आज शेष बातें सुननेकी इच्छा है।

गुरु। सब बातें ही शेषमें शामिल हैं। अब तक हमें केवल दो बातें मिली हैं। (१) मनुष्यका सुख मनुष्यत्वमें है और (२) यह मनुष्यत्व सब वृत्तियोंकी उचित तेजस्विता, पूर्णता और सामञ्जस्यसे लाभ होता है। अब जरा यह विचारना चाहिये कि ये वृत्तियां कैसी हैं।

वृत्तियोंको साधारणतः दो भागोंमें बांट सकते हैं—(१) शारीरिक और (२) मानसिक। मानसिक वृत्तियोंमें से कुछ ज्ञान उपार्जन कराती हैं, कुछ काम कराती हैं या काममें रुचि पैदा कराती हैं और कुछ ज्ञान उपार्जन नहीं करातीं, किसी विशेष कामको भी नहीं करातीं, केवल आनन्द लूटवाती हैं। जिनका उद्देश्य ज्ञान है उन्हें ज्ञानार्ज्जनी कहूंगा। जिनके झुकानेसे हम काममें जी लगाते हैं या लगा सकते हैं उनको कार्य्यकारिणी वृत्ति कहूंगा। और जो केवल आनन्दका अनुभव कराती हैं उनको आह्लादिनी या चित्तरञ्जिनी वृत्ति कहो। तीन प्रकारकी वृत्तियोंके फल तीन प्रकारके ज्ञान, कर्म्म और आनन्द हैं। सच्चिदानन्द इन्हीं त्रिविध वृत्तियोंसे मिलते हैं।

शिष्य। यह विभाग क्या ठीक है? सब वृत्तियोंकी परितृप्तिमें ही तो आनन्द है।

गुरु। सो ठीक है। किन्तु कुछ वृत्तियां ऐसी हैं जिनकी परितृप्तिका फल केवल आनन्द है—आनन्दके सिवा और कोई फल नहीं है। ज्ञानार्ज्जनी वृत्तियोंका मुख्य फल ज्ञान पाना है और गौण फल आनन्द है। कार्य्यकारिणी वृत्तियोंका मुख्य फल कार्य्यमें प्रवृत्ति और गौण फल आनन्द है। किन्तु इनका मुख्य फल ही आनन्द है और कोई फल ही नहीं है। पाश्चात्य लोग इनको Esthetic Faculties कहते हैं।

शिष्य। पाश्चात्य लोग Esthetic को Intellectual या Emotional में शामिल करते हैं, किन्तु आपने चित्तरञ्जिनी वृत्तिको अलग कर दिया।

गुरु। मैं ठीक ठीक पाश्चात्योंका अनुसरण नहीं करता और अनुसरण करनेको बाध्य भी नहीं हूं। सत्यका अनुसरण करनेसे ही हमारा उद्देश्य सफल हो जायगा। अब मनुष्यकी सब शक्तियां चार भागोंमें बांटी जाती हैं—(१) शारीरिकी (२) ज्ञानार्ज्जनी (३) कार्य्यकारिणी और (४) चित्तरञ्जिनी। इन चार प्रकारकी वृत्तियोंकी उपयुक्त स्फूर्त्ति, पूर्णता और सामञ्जस्य ही मनुष्यत्व है।

शिष्य। क्रोधादि कार्य्यकारिणी और कामादि शारीरिक वृत्तियां हैं। इनकी पूरी स्फूर्त्ति और पूर्णता भी क्या मनुष्यत्वका उपादान है?

गुरु। इन चार प्रकारकी वृत्तियोंके अनुशीलनके सम्बन्धमें दो एक बातें कहकर उस प्रश्नकी मीमांसा करूंगा।

शिष्य। किन्तु और भी शंका है। आपने जो कहा उसमें तो कोई नयी बात नहीं मिली। सभी लोग कहते हैं कि कसरत आदिसे शारीरिक वृत्तियोंकी पुष्टि होती है। बहुतेरे ऐसा करते हैं। और जो समर्थ हैं वे पोषण करने योग्यको सुशिक्षा देकर ज्ञानार्ज्जनी वृत्तिके उत्कर्षके लिये यथेष्ट चेष्टा करते हैं। इसीसे सभ्य जगत्‌में इतने विद्यालय हैं। तीसरे यद्यपि कार्य्यकारिणी वृत्तिका नियमानुसार अनुशीलन वैसा नहीं होता तथापि उसका औचित्य सभी स्वीकार करते हैं। चौथे चित्तरञ्जिनी वृत्तियोंकी स्फूर्ति भी लोग कुछ कुछ चाहते हैं। इसका प्रमाण उनका साहित्य और सूक्ष्म

शिल्पका अनुशीलन करना है। आपने मुझे नयी बात क्या सिखायी?

गुरु। इस संसारमें नयी बातें बहुत थोड़ी ही हैं। विशेषतः मैं स्वर्गसे कोई नयी खबर लेकर नहीं आया हूं; यह बात एक तरहसे पक्की समझ लो। मेरी सभी बातें पुरानी हैं। नया केवल हमारा अपने ऊपर अविश्वास है। विशेषकर मैं धर्म्मकी व्याख्या करने चला हूं। धर्म्म पुराना है, नया नहीं। मैं नया धर्म्म कहांसे पाऊंगा?

शिष्य। किन्तु आपका शिक्षाको धर्म्मका अंश बनाना ही नया जान पड़ता है।

गुरु। वह भी नया नहीं है। हिन्दूधर्म्ममें सदासे यह बात है कि शिक्षा धर्म्मका अंश है। इसीसे सब हिन्दूधर्म्मशास्त्रोंमें शिक्षाप्रणाली विशेष रूपसे बतायी गयी है। हिन्दुओंके ब्रह्मचर्य्याश्रमकी विधि केवल पढ़नेके समयकी शिक्षाविधि ही है, कितने वर्ष अध्ययन करना होगा, किस रीतिसे अध्ययन करना होगा, क्या अध्ययन करना होगा, उसका विस्तारित विधान हिन्दूधर्म्मशास्त्रोंमें है। ब्रह्मचर्य्यके बाद गृहस्थाश्रम भी शिक्षास्थल मात्र है। ब्रह्मचर्य्यमें ज्ञानार्ज्जनी वृत्तियोंका अनुशीलन होता है और गृहस्थाश्रममें कार्य्यकारिणी वृत्तियोंका। इन दो प्रकारकी शिक्षाओंकी विधि स्थापन करनेमें हिन्दूशास्त्रकार लगे हुए थे। मैं भी उन्हीं आर्य्य ऋषियोंका पदारविन्द स्मरणकर उनके दिखाये हुए पथ पर ही जाता हूं। तीन चार हजार वर्ष पहले भारतवर्षके लिये जो विधि संस्थापित हुई थी आज ठीक वेही विधियां अक्षर अक्षर मिलाकर नहीं चलायी जा सकतीं। वे ऋषि यदि आज भारतवर्षमें विद्यमान होते तो वेही कहते—"नहीं, वे नहीं चलेंगी। हमारी विधियोंको रत्ती रत्ती मानकर आजकल अगर चलोगे तो हमारे प्रचार किये हुए धर्म्मके मर्म्मके विपरीत कार्य्य होगा।" हिन्दू धर्म्मका वह मर्म्मभाग अमर है; चिरकाल चलेगा और मनुष्यका हितसाधन करेगा, क्योंकि मानवप्रकृति पर ही उसकी नींव है। परन्तु विशेष विधियां सब धर्म्मोंमें समयानुकूल होती हैं। वे

काल-भेदसे छोड़ने या बदलने योग्य हैं। हिन्दूधर्म्मके नये संस्कारकी मोटी बात यही है।

शिष्य। किन्तु मुझे सन्देह होता है कि आप इसके भीतर बहुतसी विलायती बातें घुसेड़ रहे हैं। यह कोमतका मत है कि शिक्षा धर्म्मका अंश है।

गुरु। हो सकता है। इस समय हिन्दूधर्म्मके किसी अंशके साथ अगर कोमतकी कुछ समानता हो जाय तो क्या यवनस्पर्श-दोष कहकर हिन्दूधर्म्मके उस अंशको फेंक देना होगा? ईसाई धर्म्ममें ईश्वरकी उपासना है, इसलिये क्या हिन्दुओंको ईश्वरोपासना छोड़ देनी होगी? उस दिन नाइंटिन्थ सेञ्चुरीमें हर्बट स्पेंसरने कोमत मतका प्रतिवाद करते हुए ईश्वरके सम्बन्धमें जो राय दी थी वह मूलतः वेदान्तका अद्वैतवाद और मायावाद है। स्पिनोजोका मत भी वेदान्त मतसे मिलता है। वेदान्तसे हर्बर्ट स्पेंसर या स्पिनोजोका मत मिलता है, इसलिये क्या वेदान्तको हिन्दूधर्म्मसे निकाल बाहर करना होगा? मैं स्पेंसरी या स्पिनोजोई कहकर वेदान्तको नहीं छोड़ूंगा, बल्कि स्पिनोजो या स्पेंसरको युरोपियन हिन्दू समझकर हिन्दुओंमें गिनूंगा। हिन्दूधर्म्मका जो स्थूल भाग है, युरोपवाले टोह लगा लगाकर उसका जरा जरा अंश लेते जाते हैं, यह हिन्दूधर्म्मकी श्रेष्ठताका साधारण प्रमाण नहीं है।

शिष्य। जो हो, हिसाब और कसरतकी शिक्षा अगर धर्म्ममें आ गया तो धर्म्मसे अलग क्या है?

गुरु। कुछ भी धर्म्मसे अलग नहीं है। अगर धर्म्म सच्चे सुखका उपाय है तो मनुष्यजीवनके सब अंशका ही धर्म्म पर रखना उचित है। यही हिन्दूधर्म्मका असली मर्म्म है। दूसरे धर्म्मोंमें ऐसा नहीं होता, इससे दूसरे धर्म्म अधूरे हैं, केवल हिन्दूधर्म्म सम्पूर्ण धर्म्म है। दूसरी जातियोंका विश्वास है कि केवल ईश्वर और परकालको लेकर ही धर्म्म है। हिन्दुओंके निकट इहकाल, परकाल, ईश्वर मनुष्य, समस्त जीव, समस्त जगत्, सबको लेकर धर्म्म है। ऐसा सर्वव्यापी सर्वसुखमय पवित्र धर्म्म और क्या है?

छठा अध्याय—सामञ्जस्य।

—:o:—

शिष्य। वृत्तियोंका अनुशीलन क्या है, यह समझ गया। अब यह सुननेकी इच्छा है कि उन सबका सामञ्जस्य क्या है। क्या शारीरिक आदि सब वृत्तियोंका एक समान अनुशीलन करना होगा? काम, क्रोध या लोभका जितना अनुशीलन होगा क्या उतना ही अनुशीलन भक्ति, प्रीति और दयाका भी करना होगा? पहलेके धर्म्मवेत्ताओंका कथन है कि काम क्रोधादिका दमन करना और भक्ति प्रीति दयादिका अपार अनुशीलन करना। यह अगर सच हो तो सामञ्जस्य कहां रहा?

गुरु। धर्म्मवेत्ता लोग जो कह गये हैं वह बहुत ठीक है और उसका विशेष कारण है। भक्ति प्रीति प्रभृति श्रेष्ठ वृत्तियोंके फैलनेकी शक्ति सबसे अधिक है और इन वृत्तियोंके अधिक फैलावसे ही दूसरी वृत्तियोंका सामञ्जस्य होता है। जिसको उचित उत्कर्ष और सामञ्जस्य कहा है उसका तात्पर्य्य यह नहीं है कि सब वृत्तियां एक समान चमकेंगी और बढ़ेंगी। सब प्रकारके वृक्षोंकी समुचित वृद्धि और सामञ्जस्यसे सुहावना बाग होता है; किन्तु यहां समुचित वृद्धिका अर्थ यह नहीं है कि ताड़ और नारियलके पेड़ जितने बड़े होंगे उतने ही बड़े गुलाब या चमेलीके पेड़ भी हों। जिस वृक्षमें जितनी बढ़नेकी शक्ति है वह उतना बढ़ेगा। अगर एक पेड़के बहुत बढ़नेसे दूसरे पेड़ ठीक ठीक न बढ़ सकें, अगर इमलीके पेड़की छाहसे गुलाबके पौदे सूख जायं तो सामञ्जस्यमें हानि हुई। मनुष्यका चरित्र भी ऐसा ही है। कुछ वृत्तियोंकी—जैसे भक्ति, प्रीति, दया आदिकी फैलनेकी शक्ति दूसरी वृत्तियोंसे अधिक है; और इनका अधिक फैलाव ही समुचित उत्कर्ष और सब वृत्तियोंके सामञ्जस्यका मूल है। उधर और भी कई वृत्तियां हैं जिनकी—मुख्यकर कुछ शारीरिक वृत्तियोंकी बढ़नेकी शक्ति भी अधिक है। किन्तु उनके अधिक बढ़नेसे दूसरी वृत्तियोंके समुचित उत्कर्षमें बाधा पड़ती

है। इसलिये वे जितनी चमक सकती हैं उतना उन्हें चमकने देना अनुचित है। वे इमलीके पेड़ हैं, उनकी धाहसे गुलाबके पौदे मर जा सकते हैं। मैं यह नहीं कहता कि उनको बागसे उखाड़कर फेंक दो। यह अनुचित है; क्योंकि खटाई दरकार है—बुरी वृत्तियां भी दरकार हैं, ये सब बातें आगे चलकर विस्तार पूर्वक कहूंगा। इमलीके पेड़को जड़से काट मत डालो, किन्तु उसका स्थान एक कोना है। वह बहुत बढ़ने न पावे, उसको बढ़तेही तराश दो। दो एक इमलीके फलनेसे ही काम चल जायगा। उससे अधिक न बढ़ने पावे। बुरी वृत्तियां उतनी ही दूर तक बढ़ें जितनेसे सांसारिक मतलब सिद्ध हो जाय, उससे अधिक न बढ़ने पावें। इसीको समुचित वृद्धि और सामञ्जस्य कहा है।

शिष्य। तो समझा कि ऐसी कुछ वृत्तियां हैं, यथा कामादि, जिनका दमन ही उचित उत्कर्ष है।

गुरु। दमनसे मतलब जड़ काट डालनेका समझा हो तो ठीक नहीं। कामकी जड़ काट डालनेसे मनुष्य जातिका लोप हो जायगा, इसलिये इस वाहियात वृत्तिको भी निर्मूल करना धर्म्म नहीं, अधर्म्म है। हमारे परम रमणीय हिन्दूधर्म्ममें भी यही विधि है। हिन्दू शास्त्रकारोंने इसकी जड़ मिटा देनेका विधान नहीं किया है; बल्कि धर्म्मके निमित्त उसका प्रयोग ही विहित बताया है। हिन्दूशास्त्रोंके अनुसार पुत्रोत्पन्न करना और वंशरक्षा धर्म्मका अंश है। परन्तु मतलबसे अधिक इस वृत्तिकी चमक हिन्दूशास्त्रानुसार निषिद्ध है और उसीका अनुकरण करता हुआ मैं जो धर्म्म-व्याख्या तुम्हें सुना रहा हूं उसके अनुसार भी वह चमक निषिद्ध होती है। क्योंकि वंशरक्षा और स्वास्थ्यरक्षाके लिये जितनी दरकार है उससे अधिक उत्कर्ष सामञ्जस्यमें विघ्न डालनेवाली और ऊंची वृत्तियोंकी वृद्धि रोकनेवाली है। अगर अनुचित वृद्धि रोकनेको दमन कहते हो तो उक्त वृत्तियोंका दमन ही समुचित अनुशीलन है। इस अर्थमें इन्द्रिय दमन ही परम धर्म्म है।

शिष्य। कामवृत्ति लोकरक्षाके लिये कुछ दरकार है। इसीसे आपको इतनी बातें कहनेका अवसर मिला; किन्तु दूसरी बुरी

वृत्तियोंके विषयमें तो यह बातें नहीं घटतीं।

गुरु। सब बुरी वृत्तियोंके विषयमें ये बातें घटेंगी। किसके विषयमें नहीं घटतीं?

शिष्य। मान लीजिये क्रोध। क्रोधको निर्मूल कर देनेमें तो मैं कोई बुराई नहीं देखता।

गुरु। क्रोध आत्मरक्षा और समाज-रक्षाका मूल है। दण्ड-नीति विधिबद्ध करना सामाजिक क्रोध है; क्रोधको निर्मूल करनेसे दण्डनीति निर्मूल होगी। दण्डनीतिके निर्मूल होनेसे समाजका मटियामेट हो जायगा।

शिष्य। मैं दण्डनीतिको क्रोधमूलक नहीं मानता; बल्कि दयामूलक कहना उससे अच्छा समझता हूं। क्योंकि दण्डशास्त्रके प्रणेताओंने सबके कल्याणकी इच्छासे ही दण्डविधि निकाली है और सबकी कल्याण-कामनासे ही राजा दण्ड प्रचार करते हैं।

गुरु। आत्मरक्षाकी बात विचारकर देखो। हानि पहुंचाने वालोंको रोकनेकी इच्छा करना ही क्रोध है। उस क्रोधके वशीभूत होकर ही हम हानिकारियोंके विरोधी होते हैं। यह विरोध ही आत्मरक्षाकी चेष्टा है। सम्भव है, हम केवल बुद्धिबलसे ही स्थिर कर सकते हैं कि अनिष्टकारियोंको रोकना उचित है। किन्तु केवल बुद्धि द्वारा काममें लगनेसे क्रोधकी तेजी और और हठका हम कभी नहीं पावेंगे। फिर जब मनुष्य दूसरेको अपने समान समझनेकी चेष्टा करता है तब वह आत्मरक्षा और पररक्षा एक समान क्रोधका फल हो जाती हैं। पररक्षाकी चेष्टामें जो क्रोध होता है वही विधिबद्ध होनेसे दण्डनीति बन गया है।

शिष्य। लोभमें तो मैं कुछ धर्म्म नहीं देखता।

गुरु। जिस वृत्तिकी अनुचित बुद्धिको लोभ कहते हैं उसकी उचित या सामञ्जस्ययोग्य स्फूर्त्ति धर्म्मतः उपार्जनकी लालसा है। अपनी जीवनयात्रा निबाहनेके लिये जो जो दरकार है और हमारे ऊपर जिनकी रक्षाका भार है उनकी जिन्दगी निबाहनेके लिये जो जो दरकार है उसकी संग्रह करना अवश्य कर्त्तव्य है। ऐसे परिमित उपार्जनमें,—केवल धन कमानेकी बात नहीं कहता, भोग्य वस्तु

मात्राके उपार्जनकी बात कहता हूं—कुछ दोष नहीं है। उस परिमित मात्राको लांघ जानेसे ही यह अच्छी वृत्ति लोभ बन जाती है। अनुचित वृद्धि पानेसे ही वह महापापकी गिन्तीमें आ जाती है। दो बातें समझो। जिनको हम बुरी वृत्तियां कहते हैं वे सभी उचित मात्रामें धर्म्म हैं और अनुचित मात्रामें अधर्म्म। और ये वृत्तियां ऐसी तेज हैं कि ध्यान न रखनेसे वे अकसर उचित मात्राको पारकर जाती हैं; इसलिये दमन ही इनके लिये असली अनुशीलन है। ये दो बातें समझनेसे ही तुम अनुशीलन तत्त्वका यह अंश समझ जाओगे। दमनही असली अनुशीलन है; मटियामेट करना नहीं। महादेवने मन्मथकी अनुचित स्फूर्ति देखकर उसको जला डाला था, किन्तु संसारके हितके लिये फिर उसको जिलाना पड़ा।* श्रीमद्भगवद्गीतामें कृष्णका जो उपदेश है उसमें भी इन्द्रियोंको निर्मूल करनेके लिये नहीं कहा है, दमन ही बताया है। संयत होनेसे वे शान्तिमें विघ्न नहीं डाल सकतीं, यथा—

रागद्वेषविमुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥२॥६४।

शिष्य। जो हो, इस तत्त्वको लेकर अधिक समय बितानेकी दरकार नहीं है। भक्ति, प्रीति दया आदि श्रेष्ठ वृत्तियोंके अनुशीलन सम्बन्धमें उपदेश कीजिये।

गुरु। इस विषयमें इतनी बातें कहनेकी इच्छा मेरी भी नहीं थी। दो कारणोंसे कहनेको लाचार हुआ। पहले तो तुम्हारी

---

* मन्मथ ध्वंस हुआ, किन्तु केवलमात्र रतिसे जीव लोककी रक्षा नहीं हो सकती; इसीसे मन्मथको फिर जिलाना पड़ा। दूसरे पुनर्जन्म पाये हुए कामका प्रतिपालन रति द्वारा हुआ। यह बात भी स्मरण रहे कि अनुचित अनुशीलनसे अनुचित स्फूर्त्ति आती है। पौराणिक उपाख्यानोंका ऐसा ही गूढ़ तत्त्व अनुभव कर लेने पर फिर पौराणिक हिन्दूधर्म्म उपधर्म्म-सङ्कुल या Silly नहीं जान पड़ेगा। और कभी दो एक उदाहरण दूंगा।

शङ्काका खण्डन करना पड़ा। दूसरे आजकल योग-धर्म्मका शोर मचा है उससे जो कुछ भिन्ना उठा है। उस धर्म्मके फलाफलके विषयमें मुझे कुछ कहना नहीं है। उसमें बड़ा फल है, इसमें सन्देह ही क्या है? किन्तु जो लोग यह शोर मचाते फिरते हैं, उनकी राय यही दिखाई देती है कि कुछ वृत्तियोंको जड़से उखाड़ देना, कुछकी परवा न करना और कुछको बेतरह बढ़ाना ही योगका उद्देश्य है। अब अगर सब वृत्तियोंकी उचित स्फूर्त्ति और सामञ्जस्य धर्म्म है तो उनका यह धर्म्म अधर्म्म है। वृत्ति बुरी हो वा अच्छी, उसकी जड़ उखाड़ना ही अधर्म्म है। लम्पट या पेटू आदमी अधार्म्मिक हैं; क्योंकि वे और सब वृत्तियों पर ध्यान न देकर दो एकके बेतरह अनुशीलनमें लगे रहते हैं। योगी भी अधार्म्मिक हैं; क्योंकि वे भी और सब वृत्तियों पर ध्यान न देकर दो एकका बेतरह अनुशीलन करते हैं। तुम चाहो तो बुरी और अच्छी वृत्तिके विचारसे लम्पट या पेटूको नीच श्रेणीके अधार्म्मिक और योगियोंको ऊंची श्रेणीके अधार्म्मिक कह सकते हो। किन्तु दोनोंको ही अधार्म्मिक कहना होगा। और मैं किसी वृत्तिको बुरी या हानिकारक कहनेको राजी नहीं हूं। हमारे अपने दोषसे बुराई होती है, इससे वृत्तियोंको बुरी क्यों कहूंगा? जगदीश्वरने हम लोगोंको कोई वस्तु बुरी नहीं दी है। उनके सामने अच्छे बुरेका भेद नहीं है। उन्होंने जो कुछ किया है उन्हें अपने अपने कामके योग्यही किया है। कामके उपयोगी कर लेनेसेही वे बढ़िया हो जाती हैं। यह सच है कि संसारमें अमङ्गल है। किन्तु वह अमङ्गल मंगलसे ऐसा मिला हुआ है कि उसको मङ्गलका अंश मानना ही कर्त्तव्य है। हमारी सब वृत्तियांही मङ्गलमय हैं। उनसे जब अमङ्गल होता है तब हमारे ही दोषसे होता है। जगत्तत्वकी जितनी ही आलोचना की जायगी उतना ही समझमें आवेगा कि हमारे मङ्गलके साथ ही जगत्का सम्बन्ध है। निखिल विश्वका सब अंश ही मनुष्यकी सब वृत्तियोंके अनुकूल है। प्रकृति हमारी सब वृत्तियोंका सहाय है। इसीसे युगपरम्परासे मनुष्यजातिकी औसतके हिसाबसे उन्नति ही हुई है, अवनति नहीं हुई है। धर्म्म ही इस उन्नतिका कारण

है। जो वैज्ञानिक नास्तिक धर्म्मकी दिल्लगी उड़ाकर विज्ञानको ही इस उन्नतिका कारण बताते हैं, वे नहीं जानते कि उनका विज्ञान भी इस धर्म्मका एक अंश है; वे भी एक धर्म्मके आचार्य्य हैं। वे जब Law की महिमा बखानते हैं और मैं जब रामनाम लेता हूं तब हम दोनों एक ही बात कहते हैं। दोनों एक ही विश्वेश्वरकी महिमा गाते हैं। मनुष्योंमें धर्म्मके नाम पर इतना वाद विवाद न होनेसे भी काम बनता है।

सातवां अध्याय—सामञ्जस्य और सुख।

—:o:—

गुरु। अब बुरे कामवाली वृत्तियोंको छोड़कर जिन्हें अच्छी वृत्तियां कहते हो, उनकी बात कहता हूं, सुनो।

शिष्य। आपने कहा है कि कुछ कार्य्यकारिणी वृत्तियां भक्ति, आदि अधिक बढ़नेमें समर्थ हैं और उनके अधिक बढ़नेसे ही सब वृत्तियोंका सामञ्जस्य है। और कुछ वृत्तियां—कामादि भी—अधिक बढ़नेमें समर्थ हैं; उनके अधिक बढ़नेसे सामञ्जस्य जाता रहता है। कुछके अधिक बढ़नेमें सामञ्जस्य और कुछके अधिक बढ़नेमें असामञ्जस्य है; ऐसा क्यों होता है यह तो आपने नहीं समझाया। आपने कहा है कि कामादिके अधिक बढ़नेसे भक्ति प्रीति आदि दूसरी वृत्तियां अच्छी तरह नहीं चमकतीं; इससे असामञ्जस्य होता है। किन्तु भक्ति, प्रीति, दयादिके अधिक बढ़नेसे काम, क्रोधादिकी भी भलीभांति वृद्धि नहीं होती; इससे असामञ्जस्य क्यों नहीं होता?

गुरु। जो शारीरिक वृत्तियां या पाशव वृत्तियां हैं, जो पशुओंमें भी हैं और हम लोगोंमें भी हैं वे जीवनरक्षा और वंशरक्षाके लिये बहुत आवश्यक हैं। इससे स्पष्ट ही मालूम होता है

कि वे स्वतःही स्फूर्त हैं—स्वयं ही चमकती हैं, अनुशीलनकी परवा नहीं करतीं। इन लोगोंको अनुशीलन करके भूख नहीं लगानी पड़ती, अनुशीलन करके सोनेकी शक्ति नहीं पैदा करनी पड़ती। देखना स्वतःस्फूर्त और स्वाभाविकमें गड़बड़ मत मचाना। जो हमारे साथ पैदा हुई हैं वे स्वाभाविक हैं; सब वृत्तियां स्वाभाविक हैं। किन्तु सब वृत्तियां स्वतःस्फूर्त नहीं हैं—सब स्वयं नहीं चमकतीं। जो स्वतःस्फूर्त हैं, स्वयं चमकनेवाली हैं वे दूसरी वृत्तियोंके अनुशीलनसे नहीं मिट सकतीं।

शिष्य। कुछ भी नहीं समझा। जो स्वतःस्फूर्त नहीं हैं वे ही क्यों दूसरी वृत्तियोंके अनुशीलनसे मिट जायंगी।

गुरु। अनुशीलनके लिये तीन सामग्रियां दरकार हैं (१) समय, (२) शक्ति (Energy), (३) जिससे वृत्तियोंका अनुशीलन करेंगे यानी अनुशीलनका उपादान। हमारा समय और शक्ति दोनों ही सङ्कीर्ण हैं। मनुष्य जीवन कई वर्षोंकी सीमामें आबद्ध है। जीविका चलानेके कामके बाद अनुशीलनके लिये जो समय बचता है उसमेंसे कुछ भी बरबाद होनेसे सब वृत्तियोंके समुचित अनुशीलनके योग्य समय नहीं मिलेगा। बरबाद न होने देनेके लिये यह नियम करना पड़ता है कि जिन जिन वृत्तियोंके लिये अनुशीलन दरकार नहीं है अर्थात् जो स्वतःस्फूर्त हैं उनके अनुशीलनमें समय नहीं लगावेंगे; जिनके लिये अनुशीलन दरकार है उनके अनुशीलनमें ही सब समय नहीं लगावेंगे। यदि ऐसा न करके स्वतःस्फूर्त वृत्तियोंके व्यर्थ अनुशीलनमें समय बितावें तो समयके अभावसे दूसरी वृत्तियोंका उपयुक्त अनुशीलन नहीं होगा। सब वे सब घट या मिट जायंगी। दूसरे, शक्तिके सम्बन्धमें भी यही बात चलती है। हममें जितनी काम करनेकी शक्ति है वह भी सीमाबद्ध है। जीविका निबाहनेके बाद जो बच जाती है, वह स्वतःस्फूर्त वृत्तियोंके अनुशीलनके लिये बहुत नहीं होती। विशेष कर पाशव वृत्तियोंका अधिक अनुशीलन शक्ति क्षय करनेवाला है। तीसरे स्वतःस्फूर्त पाशव वृत्तियोंके अनुशीलनके उपादान और मानसिक वृत्तियोंके अनुशीलनके उपादानमें परस्पर बड़ा विरोध है। जहां

वे रहती हैं वहां वे नहीं रह सकतीं। विलासिनियोंकी मण्डलीमें रहनेवालेके हृदयमें ईश्वरका विकाश असम्भव है और क्रोधी शस्त्रधारीके पास भिखमंगेका जाना असम्भव है। और सबसे बढ़कर यह बात है कि पाशव वृत्तियां, शरीर और जातिकी रक्षाके लिये आवश्यक होनेके कारण, चाहे पुरुषपरम्परासे आयी हुई स्फूर्तिके कारण हो अथवा चाहे जीवरक्षाभिलाषी ईश्वरकी इच्छासे हो, ऐसी जबरदस्त हैं कि अनुशीलनसे वे समूचे हृदयको घेर लेती हैं, और किसी वृत्तिके लिये स्थान नहीं रहता। यही विशेषता है।

उधर जो वृत्तियां स्वतःस्फूर्त नहीं हैं उनके अनुशीलनमें अपना सब अवसर और जीविका निवाहनेसे बची हुई शक्तिको लगानेसे स्वतःस्फूर्त्त वृत्तियोंकी आवश्यकीय वृद्धिमें कोई बाधा नहीं पड़ती। क्योंकि वे स्वतःस्फूर्त हैं। बल्कि उपादानमें विरोध होनेके कारण उनका दमन हो सकता है। और यह देखा गया है कि उन सबका दमन ही यथार्थ अनुशीलन है।

शिष्य। किन्तु योगी लोग दूसरी वृत्तियोंको बढ़ाकर या किसी और उपायसे पाशव वृत्तियोंको नष्ट कर देते हैं; क्या यह सच नहीं है?

गुरु। यह बात नहीं है कि चेष्टा करनेसे कामादिकी जड़ नहीं काटी जा सकती हो। किन्तु वह व्यवस्था अनुशीलन धर्म्मकी नहीं, सन्न्यास धर्म्मकी है। मैं सन्न्यासको धर्म्म नहीं कहता—अन्ततः सन्न्यासको सम्पूर्ण धर्म्म नहीं कहता। अनुशीलन प्रवृत्तिमार्ग है और सन्न्यास निवृत्ति मार्ग। भगवानने स्वयं कर्मकी ही श्रेष्ठता बखानी है। अनुशीलन कर्म्मात्मक है।

शिष्य। खैर, आपके सामञ्जस्य तत्वका एक मोटा नियम यह समझा कि जो स्वतःस्फूर्त है उसे बढ़ने नहीं देंगे और जो वृत्ति स्वतःस्फूर्त नहीं है उसे बढ़ने दे सकते हैं। किन्तु उसमें एक गड़बड़ पड़ती है। प्रतिभा (Genius) क्या स्वतःस्फूर्त नहीं है? मैं जानता हूं कि प्रतिभा कोई विशेष वृत्ति नहीं है। किन्तु विशेष मानसिक वृत्तिको स्फूर्तिवाली होनेसे क्या बढ़ने नहीं देंगे? इससे तो आत्महत्या कर लेना अच्छा है।

गुरु । बेशक ।

शिष्य । अगर ऐसा है तो क्या लक्षण देखकर निश्चय करेंगे कि अमुक वृत्तिको बढ़ने दे सकते हैं और अमुकको नहीं ? किस कसौटीपर घिसकर स्थिर करेंगे कि यह सोना है और यह पीतल ?

गुरु । मैंने कहा है कि सुखका उपाय धर्म्म है और मनुष्यत्वमें ही धर्म्म है । इसलिये सुखही कसौटी है ।

शिष्य । बड़ी आफतकी बात है ? मैं अगर कहूं कि इन्द्रियोंकी परितृप्तिमें ही सुख है ?

गुरु । ऐसा नहीं कह सकते । क्योंकि समझा चुका हूं कि सुख क्या है । हमारी सब वृत्तियोंकी फुर्ती, सामञ्जस्य और उपयुक्त परितृप्ति ही सुख है ।

शिष्य । यह बात मैं अभीतक अच्छी तरह नहीं समझ सका हूं । सब वृत्तियोंकी स्फूर्त्ति और परितृप्तिका समावेश सुख है या हरएक अलग अलग वृत्तिकी स्फूर्त्ति और परितृप्ति ही सुख है ?

गुरु । समावेश ही सुख है । अलग अलग वृत्तियोंकी स्फूर्त्ति और परितृप्ति सुखका केवल अंश है ।

शिष्य । तब कसौटी कौन है ? समावेश या अंश ?

गुरु । समावेश ही कसौटी है ।

शिष्य । यह तो समझमें नहीं आता है । मान लीजिये कि मैं चित्र खींच सकता हूं । कुछ विशेष वृत्तियोंकी रगड़से यह शक्ति आती है । अब पूछना यह है कि हमें उन वृत्तियोंको अधिक बढ़ाना चाहिये या नहीं ? आप कहेंगे—"सब वृत्तियोंकी उचित स्फूर्त्ति और चरितार्थताके समावेशमें जो सुख है उसमें कोई विघ्न पड़ेगा कि नहीं, यह बात समझकर तब चित्र विद्याका अनुशीलन करो ।" अर्थात् तूली उठानेसे पहले मुझे गिनकर देखना होगा कि इससे मेरे पुट्ठेके बल नस रगका स्वास्थ्य, नेत्रकी दृष्टि, कानसे सुननेकी शक्ति, ईश्वर भक्ति, मनुष्य प्रीति, दीनों पर दया, सत्यपर अनुराग, सन्तान स्नेह, शत्रु पर क्रोध, वैज्ञानिक बुद्धि, दार्शनिक धृति, काव्यकी कल्पना, साहित्यकी समालोचना आदिमें कुछ विघ्न पड़ता है कि नहीं ? यह क्या सहज है ?

गुरु। निःसन्देह कठिन है। धर्म्माचरण लड़कोंका खेल नहीं है। धर्म्माचरण बड़ा ही कठिन काम है। इसीसे सच्चे धार्म्मिक पृथिवी पर बहुत कम हैं। धर्म्म सुखका उपाय है किन्तु सुख बड़े परिश्रमसे मिलता है। साधना बड़ी कठिन है। कठिन है, किन्तु असाध्य नहीं है।

शिष्य। किन्तु धर्म्म तो सर्व साधारणके उपयोगी होना चाहिये।

गुरु। धर्म्म अगर हमारे तुम्हारे बनानेकी वस्तु होता तो तुम जिसको साधारणके उपयोगी कहते हो, वैसाही बना देते। फरमाइशके अनुसार माल तय्यार कर देता। किन्तु धर्म्म हमारे तुम्हारे बनानेका नहीं है। धर्म्म ऐशिक नियमाधीन है। जो धर्म्मके प्रणेता हैं उन्होंने इसको जैसा बनाया है वैसाही तुम्हें समझाना होगा। परन्तु धर्म्मको सर्व साधारणके अनुपयोगी बताना भी उचित नहीं है। चेष्टा करनेसे अर्थात् अनुशीलनसे सब कोई धार्म्मिक हो सकते हैं। मेरा विश्वास है कि एक समय सब मनुष्य ही धार्म्मिक होंगे। जितने दिन यह नहीं होता है, उतने दिन वे आदर्शकी नकल करें। आदर्शके विषयमें जो कहा है उसे याद करो। तभी तुम्हारी इस शङ्काका खण्डन हो जायगा।

शिष्य। अगर कहूं कि मैं आपके वैसे एक पारिभाषिक और दुर्लभ सुखको सुख नहीं मानता, मेरी इन्द्रियादिकी परितृप्ति ही सुख है?

गुरु। तब मैं कहूंगा कि सुखका उपाय धर्म्म नहीं है, सुखका उपाय अधर्म्म है।

शिष्य। क्या इन्द्रिय परितृप्ति सुख नहीं है? वह भी वृत्तियोंकी फुर्ती और चरितार्थता है। मैं क्यों इन्द्रियोंको दबाकर दया आदिका अधिक अनुशीलन करूंगा? आपने इसका कोई उचित कारण नहीं दिखाया। अलबत्ते आपने यह समझाया है कि इन्द्रियादिके अधिक अनुशीलनसे दया आदिके ध्वंसकी सम्भावना है किन्तु अगर मैं उसके उत्तरमें कहूं कि चाहे ध्वंस हो, मगर मैं इन्द्रिय सुखसे क्यों वञ्चित होने लगूं?

गुरु। तब मैं कहूंगा कि तुम धोबीके घाटसे रास्ता भूलकर चले आये हो। जो हो, मैं तुम्हारी बातका उत्तर दूंगा। इन्द्रिय परितृप्तिमें सुख है? अच्छा, यही सही। मैं तुम्हें बेखटके इन्द्रिय परितृप्त करनेकी अनुमति देता हूं। मैं कबूलियत लिख देता हूं कि इस इन्द्रिय परितृप्तिमें कोई कभी कुछ भी बाधा नहीं देगा, कोई निन्दा नहीं करेगा—अगर कोई करे तो मेरा जिम्मा रहा। किन्तु तुमको भी एक कबूलियत लिख देनी होगी। तुम्हें लिखना होगा कि "मैं यह कहकर इन्द्रिय परितृप्ति नहीं छोड़ूंगा कि अब इसमें सुख नहीं है।" थकावट, नफरत, रोग, पश्चात्ताप, आयुःक्षय, पशुत्वमें अधःपतन आदि कुछ भी उज्र न करके कभी उसे नहीं छोड़ना होगा। क्यों? राजी हो?

शिष्य। दुहाई महाराजकी! मैं राजी नहीं हूं। किन्तु क्या ऐसे आदमी बहुधा नहीं देखे जाते जो सारा जीवन इन्द्रिय परितृप्तिमें ही बिताते हैं? बहुत लोग तो ऐसे ही हैं।

गुरु। हम लोग समझते हैं कि ऐसे ही बहुत लोग हैं परन्तु भीतरका भेद नहीं जानते। भीतरका भेद यह है कि जिनको जीवन भर इन्द्रियपरायण देखते हैं उनमें इन्द्रिय परितृप्तिकी चेष्टा प्रबल होने पर भी उतनी परितृप्ति नहीं हुई है। जिस तृप्तिके होनेसे इन्द्रियपरायणताका दुःख समझमें आता है वह तृप्ति नहीं हुई है। तृप्ति न होनेसे ही चेष्टा इतनी प्रबल होती है। अनुशीलनके दोषसे हृदयमें आग लगी है, जलन बुझानेके लिये वे जल ढूंढ़ते फिरते हैं, किन्तु जानते नहीं कि अग्निदाहकी दवा जल नहीं है।

शिष्य। किन्तु ऐसा भी देखता हूं कि बहुत लोग बेखटके रातदिन इन्द्रिय विशेषको परितार्थ करते हैं, (विराग नहीं होता) ऊबते नहीं। शराबी इसके बढ़िया उदाहरण हैं। कितने ही ऐसे शराबी हैं जो सवेरेसे शाम तक शराब पीते हैं और केवल नींदमें ही मस्त रहते हैं। वे तो शराब नहीं छोड़ते, छोड़ना भी नहीं चाहते।

गुरु। एक एक करके कहो भैया! पहले "नहीं छोड़ते" की बात समझो। उनके न छोड़नेका कारण है। वे छोड़ नहीं सकते। क्योंकि यह केवल इन्द्रिय तृप्तिकी लालसा नहीं है—यह एक रोग है। डाकृर लोग इसको (Dipsomania) कहते हैं। इसकी दवा है—इलाज है। रोगीके चाहनेसे ही रोग नहीं छूट सकता। वह चिकित्सकके हाथमें है। चिकित्सा व्यर्थ होनेसे रोगका जो अन्तिम नतीजा है;—वही होता है, मृत्यु आकर रोगसे छुटकारा दिलाती है। न छोड़नेका कारण यही है। "छोड़ना नहीं चाहते।" यह बात सच नहीं है। कोई मुंहसे कुछ भी कहे, तुम जिस दरजेके शराबियोंकी बात कहते हो उनमें ऐसा कोई नहीं है जो शराबसे पिण्ड छुड़ानेके लिये मनही मन न घबराता हो। जो शराबी सप्ताहमें एक दिन शराब पीता है वह अब भी कहता है कि "शराब क्यों छोड़ूंगा?" उसकी शराब पीनेकी आकांक्षा अब भी परितृप्ति नहीं हुई है। तृष्णा बलवती है। किन्तु जिनकी मीयाद पूरी हो गयी है वे जानते हैं कि इस दुनियामें जितने दुःख हैं वे शायद शराब पीनेसे बढ़कर नहीं हैं। ये सब बातें केवल शराबीके लिये ही नहीं हैं। सब प्रकारके इन्द्रियपरायणों पर घटती हैं। कामीके अनुचित अनुशीलनका फल भी एक रोग है। उसकी भी चिकित्सा है और परिणाममें अकाल मृत्यु है। ऐसे ही एक रोगीकी बात मैंने अपने एक चिकित्सक मित्रसे सुनी है कि अस्पतालमें ले जाने पर उसके हाथ पैर बांध रखने पड़े थे और वह अपनी इच्छासे अङ्ग न हिला सके इसलिये लाइकरलिटी देकर उसके अङ्गमें जगह जगह जखम कर देना पड़ा था। पेटूकी बात सभी जानते हैं। एक पेटू आदमीसे मेरा विशेष परिचय था। उसको क्षुधाके अनुचित अनुशीलन और परितृप्तिके कारण ग्रहणी रोग हो गया था। वह खूब जानता था कि न पचने लायक चीजें खानेसे मेरा रोग बढ़ेगा। इसलिये वह लोभ छोड़नेकी बहुत कुछ चेष्टा भी करता था किन्तु किसी तरह कामयाब नहीं हो सका। अन्तमें अकाल मृत्युने उसे ग्रस लिया। क्यों भैया! क्या यही सब सुख है? इसके लिये प्रमाण चाहिये?

शिष्य। अब शायद मैंने समझा है कि आप सुख किसे कहते हैं। क्षणिक सुख सुख नहीं है।

गुरु। क्यों नहीं है? मैं अगर जीवनमें एक बार भी एक गुलाबका फूल देखूं, या एक गीत सुनूं और उसके बाद ही मर भूल जाऊं तो वह सुख बड़ा थोड़ा सुख है। किन्तु वह सुख क्या सुख नहीं है? वह सचमुच सुख है।

शिष्य। जो सुख क्षणिक है और जिसका परिणाम स्थायी दुःख है वह सुख नहीं है; वह केवल दुःखकी पहली अवस्था है। अब मैंने समझा है कि नहीं?

गुरु। अब रास्ते पर आये हो। किन्तु यह व्याख्या नी (व्यतिरेकी) है। केवल ऐसी व्याख्यामें ही सब कुछ नहीं मिलेगा। सुख दो भागोंमें बांटा जा सकता है—(१) स्थायी और (२) क्षणिक। इनमें—

शिष्य। स्थायी किसको कहते हैं? मान लीजिये कि कोई इन्द्रियासक्त पुरुष पांच वर्षोंसे इन्द्रिय सुख भोग रहा है। यह बात एकदम असम्भव नहीं है। उसका सुख क्या क्षणिक है?

गुरु। पहले तो सारे जीवनके आगे पांच वर्ष एक पलके बराबर है, परकालको तुम मानो चाहे न मानो, मैं मानता हूं। अनन्त कालके सामने पांच वर्ष किस गिनतीमें है? किन्तु मैं केवल परकालका भय दिखाकर किसीको धार्म्मिक बनाना नहीं चाहता, क्योंकि बहुत आदमी परकाल नहीं मानते—जो कहते हों तो भी दिलसे नहीं मानते; समझते हैं कि सिर्फ बच्चोंका हौआ डरानेकी तरह मनुष्यको शान्त रखनेकी एक पुरानी कहावत है। इसीसे आजकल बहुतेरे परकालके भयसे नहीं डरते। इसीसे साधारण लोगोंके जीमें अक्सर यह विश्वास नहीं जमता कि परकालके दु.खके भयके ऊपर ही धर्म्मकी नीव है। "आजकल" इसलिये कहता हूं कि एक समय इस देशमें वह धर्म्म बड़ा ही बलवान था, एक समय युरोपमें भी बड़ा बलवान था किन्तु आजकल निज न-मयी शताब्दी है। वह खून मांसकी बड़ी बन्दूक ओर जहाज, तोप बन्दूक गोली बारूद क्रूजर टारपीडो आदिसे सजी हुई राक्षसी—

एक हाथसे शिल्पीकी कल चलाती है और दूसरे हाथमें झाड़ू लेकर प्राचीन पवित्र और सहस्रों वर्षोंके यत्नसे रखे हुए धनरत्नको बुहार बुहार कर फेंक रही है। वह चुड़ैल इस देशमें आकर भी अपना काला मुंह दिखा रही है। उसके जालमें फंसकर तुम्हारे जैसे हजारों शिक्षित, अशिक्षित और अर्द्धशिक्षित हिन्दुस्थानी अब परकाल नहीं मानते। इसीसे मैं इस धर्म्म व्याख्यामें जहां तक बनता है परकालको छोड़ देता हूं। इसका कारण यह है कि जो तुम्हारे हृदयक्षेत्रमें नहीं है उसके ऊपर दीवार उठाकर मैं धर्म्मका मन्दिर नहीं बना सकूंगा। और मेरी समझमें परकालको छोड़ देनेसे धर्म्म बेनीवका नहीं हो जाता। क्योंकि इहलोकका सुख भी केवल धर्म्ममूलक है, इहकालका दुःख भी केवल अधर्म्म मूलक है। आजकल इहकालके दुःखसे सभी डरते हैं, इहकालका सुख सभी चाहते हैं। *इसलिये इहकालके सुख दुःखके ऊपर भी धर्म्म संस्थापित हो सकता है। इन्हीं दो कारणोंसे,—अर्थात् इहकालको सब लोग मानते हैं और परकालको सब लोग नहीं मानते इसीसे—मैं केवल इहकालके ऊपर ही धर्म्मकी नीव डालता हूं। किन्तु जब यह प्रश्न उठा है कि "स्थायी सुख क्या है तब इसके पहले उत्तरमें अवश्य कहना पड़ता है कि अनन्त काल स्थायी जो सुख है, जो सुख इहकाल और परकाल दोनोंमें रहता है वही सुख स्थायी सुख है। किन्तु इसका दूसरा उत्तर भी है।

शिष्य। दूसरा उत्तर पीछे सुनूंगा, अभी एक बातकी मीमांसा कीजिये। मान लीजिये, विचारके लिये मैं परकाल स्वीकार कर लेता हूं। किन्तु इहकालमें जो सुख है क्या परकालमें भी वही सुख है? इहकालमें जो दुःख है क्या परकालमें भी वही दुःख है? आप कहते हैं कि इहकाल और परकाल दोनोंमें रहनेवाला जो सुख है वही सुख है। एक तरहका सुख क्या दोनो कालके लिये रह सकता है?

गुरु। और कुछ सोचनेका मैं कोई कारण नहीं जानता। किन्तु

* क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्म्मजा। गीता ४।१२

इस बातके उत्तरके लिये दो तरहसे विचार करना आवश्यक है ; जो पुनर्जन्म मानता है उसके लिये एक तरहसे और जो पुनर्जन्म नहीं मानता उसके लिये एक तरहसे। तुम क्या पुनर्जन्म मानते हो ?

शिष्य। नहीं।

गुरु। अच्छी बात है। जब तुमने परकाल माना और पुनर्जन्म नहीं माना तब दो बातें मानीं,—एक यह कि यह शरीर नहीं रहेगा, इसलिये शारीरिक वृत्तियोंसे उत्पन्न जो सुख है वह परकालमें नहीं रहेगा। दूसरी, शरीरको छोड़कर और जो कुछ है वह रहेगा अर्थात् तीन तरहकी मानसिक वृत्तियां रहेंगी ; इसलिये मानसिक वृत्तियोंसे उत्पन्न सुख दुःख परकालमें भी रहेगा। परकालमें ऐसे सुखकी अधिकताको स्वर्ग कह सकते हैं और ऐसे दुःखकी अधिकताको नरक कह सकते हैं।

शिष्य। किन्तु अगर परकाल हो तो उसका धर्म्मव्याख्याका मुख्य उपादान होना ही उचित है। इसीसे दूसरी धर्म्मव्याख्याओंमें इसीने प्रधानता पायी है। आप परकाल मानकर भी उसे धर्म्म-व्याख्यासे अलग रखते हैं इससे मुझे आपकी व्याख्या अधूरी और गलत जान पड़ती है।

गुरु। अधूरी हो सकती है। अलबत्त इस बातमें भी शक है। अधूरी हो या न हो, मगर गलत नहीं है। क्योंकि अगर सुखका उपाय धर्म्म हो और इहकालका सुख ही परकालका भी सुख हो तो इहकालका जो धर्म्म है वही परकालका भी धर्म्म है। परकालको न मानो न सही, केवल इहकालको सब कुछ मानकर भी पूर्ण रूपसे धार्म्मिक हो सकते हैं। धर्म्म नित्य है। धर्म्म इहकालमें भी सुखदायी है और परकालमें भी सुखदायी है। तुम परकाल मानो या न मानो, धर्म्माचरण करना, उससे इहकालमें भी सुखी होगे और परकालमें भी।

शिष्य। आप स्वयं परकाल क्यों मानते हैं ? उसका कुछ प्रमाण है या केवल मानना अच्छा लगता है इसीसे मानते हैं ?

गुरु। जिसका प्रमाण नहीं है उसको मैं नहीं मानता। परकालका प्रमाण है, इसीसे मैं उसको मानता हूं।

शिष्य। अगर परकालका प्रमाण है, अगर आपका परकाल पर विश्वास है तो मुझे उसके माननेका उपदेश आप क्यों नहीं देते? मुझे प्रमाणोंको क्यों नहीं समझाते?

गुरु। मुझे यह बात माननी होगी कि वे प्रमाण विवाद स्थल हैं। उन प्रमाणोंमें ऐसा कोई दोष नहीं है कि जिससे उन विवादोंकी अच्छी मीमांसा नहीं हो सकती या नहीं हुई है। परन्तु आजकलके वैज्ञानिकोंके कुसंस्कारसे विवाद मिटने नहीं पाते। विवादके मैदानमें उतरनेकी मेरी इच्छा नहीं है और दरकार भी नहीं है। दरकार इसलिये नहीं समझता कि मैं तुम्हे उपदेश देता हूं कि तुम पवित्र बनो, शुद्धचित्त बनो, धर्म्मात्मा बनो। यही यथेष्ट है। हम इस धर्म्मव्याख्याके भीतर जितना ही जायंगे उतना ही देखेंगे कि इस समय जिसको सम्पूर्ण चित्त वृत्तियोंकी पूरी स्फूर्त्ति और पूर्णता कहते हैं उसका अन्तिम फल पवित्रता, चित्तशुद्धि और धार्म्मिकता है।* तुम अगर परकाल न भी मानो तौभी शुद्ध चित्त और पवित्रात्मा होनेसे निश्चय ही तुम परकालमें सुखी होगे। जब चित्त शुद्ध हो गया तब इस लोकमें ही स्वर्ग हुआ फिर परलोकके स्वर्गमें सन्देह ही क्या रहा? अगर ऐसा हो तब परकाल मानने या न माननेसे कुछ नहीं बिगड़ता। जो लोग परकालको नहीं मानते उनके लिये इसमें धर्म्म कामका हो गया; जो धर्म्मको परकालके लिये समझकर इतने दिन उसपर ध्यान नहीं देते थे वे अब उसी धर्म्मको इहकाल योग्य समझकर आसानीसे ग्रहण कर सकेंगे। और जिनका परकाल पर विश्वास है उनके विश्वाससे इस व्याख्याका तो कोई झगड़ा ही नहीं है। बल्कि हमारी यही इच्छा है कि उनका विश्वास दिन दिन पक्का होगा।

शिष्य। आपने कहा है कि इहकाल और परकाल दोनोंमें होनेवाला सुख ही सुख है। एक तरहका सुख दोनो कालोंमें हो सकता है। आपने यह समझाया कि पुनर्जन्म न माननेवालोंके

* सब बातें धीरे धीरे खुलेंगी।

लिये यह तत्त्व किस कारणसे ग्राह्य है। जो पुनर्जन्म मानता है उसके लिये क्या है?

गुरु। मैं पहले ही कह चुका हूं कि अनुशीलनकी पूर्णतामें मोक्ष है। अनुशीलनकी पूर्ण मात्रा हो जाने पर पुनर्जन्म नहीं होगा। जब भक्तितत्त्व समझाऊंगा तब यह बात और अच्छी तरह समझोगे।

शिष्य। किन्तु अनुशीलनकी पूरी मात्रा बहुधा तो नसीब होना सम्भव नहीं है। जिन्हें अनुशीलनकी पूर्णता नहीं प्राप्त हुई उनका पुनर्जन्म होगा। इस जन्मके अनुशीलनके फलसे क्या वे दूसरे जन्ममें कोई सुख पावेंगे?

गुरु। जन्मान्तर वादका खुलासा यही है कि इस जन्मका कर्मफल दूसरे जन्ममें मिलता है। सब कामोंका समूह (समवाय) अनुशीलन है। इसलिये इस जन्मके अनुशीलनका जो शुभ फल है वह अनुशीलनवादीकी रायमें अवश्य दूसरे जन्ममें मिलेगा। श्रीकृष्णने स्वयं अर्जुनसे कहा है।

"तत्र तं बुद्धि संयोगं लभते पौर्व देहिकम।" इत्यादि गीता, ६।४३

शिष्य। इस समय हम असली बातसे बहुत दूर निकल आये हैं। बात यह हो रही थी कि स्थायी सुख क्या है? उसके पहले उत्तरमें आपने कहा है कि इस काल और परकालमें चिरस्थायी जो सुख है वही स्थायी सुख है। आपने कहा है कि इसका दूसरा उत्तर भी है। दूसरा उत्तर क्या है?

गुरु। दूसरा उत्तर, जो लोग परकाल नहीं मानते उनके लिये है। यह जीवन ही अगर सब कुछ हो, मृत्यु ही अगर जीवनका अन्त हो तो जो सुख उस अन्तकाल तक रहेगा वही स्थायी सुख है। अगर परकाल स्थायी न हो तो इस जीवनमें जो सदा रहे वही स्थायी सुख है। तुम कहते थे कि दस पांच वर्षों तक कोई कोई इन्द्रिय सुखमें डूबे रहते हैं। किन्तु पांच या दस वर्ष चिरजीवन नहीं है। जो दस पांच वर्षोंसे इन्द्रिय तृप्तिमें लगा हुआ है उसका भी मृत्युकाल तक वह सुख नहीं रहेगा। तीन कारणोंमेंसे किसी न किसीसे अवश्य उसका वह सुखस्वप्न टूट जायगा।

(१) अतिभोगसे पैदा हुई ग्लानि या घृणा—अतितृप्ति; या (२) इन्द्रियासक्तिसे अवश्य पैदा होनेवाले रोग या असामर्थ; अथवा (३) उमरकी अधिकता। इसलिये इन सब सुखोंको स्थायी नहीं कह सकते।

शिष्य। और जो वृत्तियां अच्छी कही जाती हैं उनके अनुशीलनमें जो सुख है वह क्या इस जीवनमें चिरस्थायी है?

गुरु। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। एक मामूली उदाहरणसे समझाता हूं। मान लो कि दया वृत्तिकी बात हो रही है। परोपकारसे इसका अनुशीलन और चरितार्थता है। इस वृत्तिका यह दोष है कि जिसने इसके अनुशीलनका आरम्भ नहीं किया है वह इसके अनुशीलनका सुख विशेष रूपसे अनुभव नहीं कर सकता। किन्तु जिसने अनुशीलन किया है वह जानता है कि दयाके अनुशीलन और चरितार्थतामें अर्थात् परोपकारमें इतना गहरा सुख है कि बुरी भोगोंके इन्द्रिय-परायण सबसे बढ़कर सुन्दरी स्त्रियोंके पाने पर भी उतना गहरा सुख अनुभव नहीं कर सकते। इस वृत्तिका जितना ही अनुशीलन करोगे उतनी ही इसकी सुखदायकता बढ़ेगी। बुरी वृत्तिकी तरह इसमें ग्लानि नहीं होती, अतितृप्तिके कारण घृणा नहीं उभरती, वृत्तिमें असामर्थ्य या दुर्बलता नहीं होती, बल्कि बल और सामर्थ बढ़ता है। इसके सदा अनुशीलन करनेमें कोई बाधा नहीं है। पेटू दिनमें दो बार, तीन बार, हद चार बार खा सकता है। दूसरे इन्द्रिय परायणोंके भोगकी भी उसी तरह सीमा है। किन्तु परोपकार घड़ी घड़ीमें क्षण क्षणमें किया जा सकता है। मरते दमतक इसका अनुशीलन जारी रह सकता है। बहुत लोग मरते समय भी एक बात या एक इशारेसे लोगोंका उपकार कर गये हैं। एडीसनने मरते समय भी कुपथगामी युवकको बुलाकर कहा था—

"देखो धार्मिक (Christian) कितने सुखसे मरता है!"

अब परकालकी बात कहता हूं। अगर जन्मान्तर न मानकर परकाल स्वीकार किया जाय तो यह कहना पड़ेगा कि परकालमें भी हमारी मानसिक वृत्तियां रहेंगी; इसलिये यह दयावृत्ति भी

रहेगी। मैं इसको जैसी अवस्थामें ले जाऊंगा परलोककी प्रथमावस्थामें इसका उसी अवस्थामें रहना सम्भव है; क्योंकि एक ब-एक अवस्था बदलनेका कोई उपयुक्त कारण नहीं देखा जाता। मैं अगर इसे उत्तम प्रकारसे अनुशीलित और सुखप्रद अवस्थामें ले जाऊं तो वह परलोकमें भी मेरे लिये सुखदायक होगी। वहां इसे अनुशीलित पाकर और चरितार्थताके कारण इस लोककी अपेक्षा अधिकतर सुखी हूंगा।

शिष्य। यह सब सुख केवल स्वप्न है कुछ भी श्रद्धाके योग्य नहीं है। दयाका अनुशीलन और चरितार्थता कर्म्मके अधीन है। परोपकार केवल कर्म्म है। मैं अपनी कर्म्मेन्द्रियोंको शरीरके साथ यहां छोड़ गया, वहां किससे कर्म्म करूंगा?

गुरु। कुछ मूर्खोंकीसी बात कही। हम लोग यही जानते हैं कि जो चैतन्य शरीरमें है उसी चैतन्यका कर्म्म कर्म्मेन्द्रियोंसे होता है; किन्तु जो चैतन्य शरीरमें नहीं है उसका कर्म्म भी कर्म्मेन्द्रियसे होता है ऐसा समझनेका कोई कारण नहीं है। यह युक्तिकी बात नहीं है।

शिष्य। यही युक्ति पूर्ण है। अन्यथा सिद्धि शून्यस्य नियत पूर्ववर्त्तिता कारणत्वम्। नहीं तो कर्म्म सिद्धिशून्य है। कर्म्मेन्द्रिय शून्य आदमीको कर्म्म करते हमने कहीं नहीं देखा।

गुरु। ईश्वरको देखते हो। अगर कहो कि ईश्वरको नहीं मानते तो तुम्हारे साथ मेरा विचार समाप्त हो गया। मैं परकालसे धर्म्मको अलगकर विचार करनेको राजी हूं। किन्तु ईश्वरसे धर्म्मको अलग करके विचार करनेको राजी नहीं हूं। और अगर कहो कि ईश्वर साकार है, उन्होंने कारीगरकी तरह हाथसे जगत्‌को गढ़ा है तौभी तुम्हारे साथ विचार नहीं होगा। परन्तु मुझे भरोसा है कि तुम ईश्वरको मानते हो और उनका निराकार होना भी स्वीकार करते हो। अगर ऐसा मानते हो तो कर्म्मेन्द्रियशून्य निराकारका कर्म्म करना मानते हो। क्योंकि ईश्वर सर्वकर्त्ता, सर्वस्रष्टा हैं।

परलोकमें जीवनकी अवस्था स्वतन्त्र है। इसलिये दरकार भी स्वतन्त्र है। इन्द्रियोंकी दरकार न होना ही सम्भव है।

शिष्य। हो सकता है। किन्तु ये सब अन्दाजी बातें हैं। अन्दाजी बातोंकी दरकार नहीं है।

गुरु। मैं मानता हूं कि अन्दाजी बातें हैं। यह भी मानता हूं कि विश्वास करना न करना तुम्हारे अधिकारमें है। मैं देख करके तो आया नहीं हूं। किन्तु इन सब अन्दाजी बातोंका कुछ मूल्य है। अगर परकाल हो और अगर (Law of continuity) अर्थात् मानसिक अवस्थाका क्रमान्वय भाव सत्य हो तो परकालके विषयमें दूसरा कोई सिद्धान्त करनेका मार्ग मैं नहीं देखता। इस क्रमान्वय भाव पर विशेष ध्यान देना, हिन्दू, ईसाई या इसलामी जो स्वर्ग नरक है वह इस नियमके विरुद्ध है।

शिष्य। जब परकाल मान सकता हूं तो इसको भी मान लूंगा। जब हाथीको निगल सकता हूं तो उसके कानमें घुसा हुआ मच्छड़ गलेमें नहीं अटकेगा। किन्तु पूछता हूं कि इस परकालका शासनकर्त्ता कहां है?

गुरु। जिन्होंने स्वर्गका शासनकर्त्ता बनाया है उन्होंने परकालका भी शासनकर्त्ता बनाया है। मैं कुछ बनाने नहीं बैठा हूं। मैंने मनुष्य जीवनकी समालोचना करके धर्म्मका जो स्थूल मर्म्म समझा है वही तुम्हें समझाता हूं। मगर एक बात कह डालनेमें हर्ज नहीं है। जिसने पाठशालामें पढ़ा है वह पाठशाला छोड़नेके दिन ही महामहोपाध्याय पण्डित नहीं बन गया। किन्तु यह सम्भावना है कि वह समय पाकर महामहोपाध्याय पण्डित बन जावे। और जिसने पाठशालामें पढ़ा ही नहीं या जानस्टुवर्टमिलकी भांति पिताकी पाठशालामें भी नहीं पढ़ा उसके पण्डित होनेकी कोई सम्भावना नहीं है। इसी तरह मैं इस लोकको एक पाठशाला समझता हूं। जो यहांसे अच्छी वृत्तियोंकी मार्ज्जित और अनुशीलन करके ले जायगा उसको वे वृत्तियां इस लोककी कल्पनासे ही बढ़कर और स्फूर्त्ति पाकर वहां उसको अनन्त सुख देंगी,

यह सम्भव है। * जो अच्छी वृत्तियोंको अनुशीलनके अभावसे कच्ची अवस्थामें परलोक ले जायगा उसे परलोकमें कुछ सुख मिलनेकी सम्भावना नहीं है। और जो केवल बुरी वृत्तियोंको बढ़ाकर परलोक जायगा उसे अपार दुःख मिलेगा। अगर जन्मान्तर न माना जाय तो इसीसे ही स्वर्ग नरक माना जा सकता है। कीड़े पील्लू आदिसे भरे हुए झीलरूपी नरक या अप्सराओंके मधुर गान और उर्वसी, मेनका रम्भादिके नाचनेसे गुलजार नन्दन काननको सुगन्धिसे पूरित स्वर्गको मैं नहीं मानता। हिन्दूधर्म्मको मानता हूं, किन्तु हिन्दूधर्म्मके शोहदेपनको नहीं मानता। मैं अपने शिष्योंको उसके माननेसे मना करता हूं।

शिष्य। मेरे जैसे शिष्यके उसके माननेकी कोई सम्भावना नहीं है। अब परकालको बात जाने दीजिये। इहकालके सुखकी जो व्याख्या कर रहे थे उसीको फिर उठाइये।

गुरु। शायद अब समझ गये होगे कि परकालको बात छोड़कर भी बतायी जा सकती है कि कौन कौन सुख स्थायी है और कौन कौन सुख स्थायित्वके अभावसे क्षणिक है।

शिष्य। शायद यह बात अभीतक नहीं समझी। मैं कहीं आल्हा सुन आया या कोई नाटक देख आया; उसमें भी कुछ आनन्द पाया। वह स्थायी सुख है या क्षणिक?

गुरु। जिस आनन्दकी बात तुम सोचते हो, समझता हूं कि वह क्षणिक है, किन्तु चित्तरञ्जिनी वृत्तिके समुचित अनुशीलनका जो फल है वह स्थायी सुख है। उस स्थायी सुखका अंश या सामग्री समझकर इस आनन्दको स्थायी सुखमें शामिल कर लेना होगा। याद रहे कि सुख वृत्तिके अनुशीलनका फल है। कह चुका हूं कि कुछ वृत्तियोंके अनुशीलनसे उत्पन्न हुआ सुख अस्थायी है। यह सुख भी

* बुढ़ापेमें जो किसी किसीकी अनुशीलित वृत्तियोंकी भी दुर्बलता देखी जाती है वह प्रायः उनकी शारीरिक दुरवस्थाके कारण होती है। समझना चाहिये, कि उनकी शारीरिक वृत्तियोंका उचित अनुशीलन नहीं हुआ। नहीं तो सबकी वह दशा क्यों नहीं होती?

दो प्रकारका है ;—(१) जिसके परिणाममें दुःख है, (२) जो क्षणिक होने पर भी परिणाममें दुःखशून्य है। इन्द्रियादिकी बुरी वृत्तियोंके सम्बन्धमें पहले जो कहा गया है उससे यह बात अवश्य समझ गये होगे कि उन वृत्तियोंका परिमित अनुशीलन दुःख रहित सुख है और उनके अनुचित अनुशीलनमें जो सुख है उसीका परिणाम दुःख है, इसलिये सुख तीन तरहका है।

(१) स्थायी।

(२) क्षणिक, किन्तु परिणाममें दुःखशून्य।

(३) क्षणिक, किन्तु परिणाममें दुःखका कारण।

पिछले सुखको सुख कहना अनुचित है, वह केवल दुःखकी पहली अवस्था है। तो सुख वह है (१) जो या तो स्थायी है, नहीं तो (२) ज' अस्थायी अथवा परिणाममें दुःखशून्य है। मैंने जहां कहा है कि सुखका उपाय धर्म्म है वहां इसी अर्थमें सुख शब्दका व्यवहार किया है। यही व्यवहार इस शब्दका असली व्यवहार है; क्योंकि जो सचमुच दुःखकी पहली अवस्था है उसको उन भूले हुओं व पशु वृत्ति-वालोंकी बातमें आकर सुखकी गिन्तीमे नहीं ला सकते। जलमें डूबकर मरनेवालेको जलकी शीतलताके कारण डूबते समय पहले कुछ सुख मिल सकता है। किन्तु वह अवस्था उसके सुखकी अवस्था नहीं है, डूबनेके दुःखकी पहली अवस्था ही है। उसी तरह परिणाममें दुःख देनेवाला सुख और दुःखकी पहली अवस्था निःसन्देह सुख नहीं है।

अब तुम अपने प्रश्नका उत्तर सुनो। तुमने पूछा था—"क्या लक्षण देखकर ठीक करेंगे कि इस वृत्तिको बढ़ने दे सकते हैं अथवा इसको बढ़ने नहीं दे सकते? किस कसौटी पर घिसकर परीक्षा करूंगा कि यह पीतल है कि नहीं?" इस प्रश्नका उत्तर अब मिल गया। जिन वृत्तियोंका अनुशीलन स्थायी सुख है उनको अधिक बढ़ने देना चाहिये—यथा भक्ति, प्रीति, दया आदि। और जिन वृत्तियोंके अनुशीलनमें क्षण भरका सुख है उन्हें बढ़ने देना नहीं चाहिये, क्योंकि उनके अधिक अनुशीलनका परिणाम सुख नहीं है। जब-तक उनका अनुशीलन सीमाबद्ध है तबतक अनुचित नहीं है क्योंकि

उसके परिणाममें दुःख नहीं है। बस इससे आगे नहीं। अनुशीलनका उद्देश्य सुख है; जिस अनुशीलनसे सुख मिलता है, दुःख नहीं होता वही विहित है, इसलिये सुख ही वह कसौटी है।

आठवां अध्याय—शारीरिकी वृत्तियां।

-:0:-

शिष्य। जहां तक बातें हुई हैं, उनसे समझा है कि अनुशीलन क्या है। और यह भी समझा है कि सुख क्या है; यही समझा है कि अनुशीलनका उद्देश्य सुख है और सामञ्जस्य उसकी सीमा है। किन्तु वृत्तियोंके अनुशीलनके विषयमें कुछ विशेष उपदेश अभीतक नहीं पाया। क्या ऐसा कुछ उपदेश देनेकी दरकार नहीं है कि किस वृत्तिका कैसे अनुशीलन करना होगा?

गुरु। यह शिक्षातत्त्व है। शिक्षातत्त्व धर्म्मतत्त्वके अन्तर्गत है। हमारी इस बातचीतका प्रधान उद्देश्य यह नहीं है। हमारा प्रधान उद्देश्य यही समझनेका है कि धर्म्म क्या है। उसके लिये जितना आवश्यक है उतना ही मैं कहूंगा।

वृत्तियोंके चार प्रकार बताये हैं; (१)शारीरिकी (२) ज्ञानार्ज्जनी (३) कार्य्यकारिणी और (४) चित्तरञ्जिनी। पहले शारीरिकी वृत्तियोंकी चर्चा करूंगा, क्योंकि वेही सबसे पहले जागती हैं। यह किसीको समझाना नहीं पड़ेगा कि उनकी स्फूर्त्ति और परितृप्तिमें सुख है। किन्तु यह कोई विश्वास नहीं करता कि धर्म्मके साथ उनका कुछ सम्बन्ध है।

शिष्य। उसका कारण यह है कि वृत्तियोंके अनुशीलनको कोई धर्म्म नहीं कहता।

गुरु। कोई कोई युरोपियन अनुशीलनवादी वृत्तियोंके अनुशीलनको धर्म्म या धर्म्म-स्थानीय कोई एक वस्तु समझते हैं, किन्तु

वे यह नहीं कहते कि शारीरिकी वृत्तियोंका अनुशीलन उनके लिये आवश्यक है।*

शिष्य। आप क्यों कहते हैं?

गुरु। अगर सब वृत्तियोंका अनुशीलन मनुष्यका धर्म्म है तो शारीरिकी वृत्तियोंका अनुशीलन भी अवश्य धर्म्म है। किन्तु खैर, उसकी बात छोड़ ही दो। लोग साधारणत: जिसको धर्म्म कहते हैं, उसमेंसे चाहे जिस किसी प्रचलित मतको लो। उसमें देखोगे कि शारीरिकी वृत्तियोंका अनुशीलन आवश्यक है। अगर होम, यज्ञ, जाप व्रतादि क्रियाओंको धर्म्म कहो; अगर दया, दान परोपकारको धर्म्म कहो, अगर केवल देवताकी उपासना या ईश्वरोपासनाको धर्म्म कहो अथवा ईसाई धर्म्म, बौद्ध धर्म्म, इसलाम धर्म्मको धर्म्म कहो तो उन सब धर्म्मोंके लिये ही शारीरिकी वृत्तियोंका अनुशीलन आवश्यक है। यह अवश्य हो किसी धर्म्मका मुख्य उद्देश्य नहीं है, किन्तु सब धर्म्मोंके विघ्न दूर करनेके लिये इसकी बहुत दरकार है। यह बात कभी किसी धर्म्मवक्ताने खोलकर नहीं कही; किन्तु इस समय इस देशमें इसे कहनेको बहुत दरकार है।

शिष्य। यह समझाइये कि धर्म्मके विघ्न क्या हैं और शारीरिकी वृत्तियोंके अनुशीलनसे कैसे उनका नाश होता है।

गुरु। पहले लो रोग। रोग धर्म्मका विघ्न है। जो कट्टर हिन्दू बीमार है वह होम, जाप, व्रत, तीर्थदर्शन आदि कुछ भी नहीं कर सकता; जो कट्टर हिन्दू नहीं हैं, किन्तु परोपकार आदि अच्छे अनुष्ठानोंको धर्म्म समझता है, रोग उसके धर्म्मका भी विघ्न है। जो बीमारीके कारण स्वयं दुर्बल है वह किसका क्या काम करेगा? जिनकी समझमें धर्म्मके लिये यह सब दरकार नहीं है, केवल ईश्वरकी चिन्ता ही धर्म्म है, रोग उसके धर्म्मका भी विघ्न है क्योंकि रोगके कष्टसे ईश्वरमें मन नहीं लगता; कमसे कम एकाग्रता नहीं रहती, क्योंकि रोग चित्तको शारीरिक कष्टमें फंसा रखता है, बीच बीचमें चञ्चल कर देता है। रोग कर्म्मीके कर्म्मका

* यह Herbert Spencer का कथन है। 'ग' क्रोड़पत्र देखो।

विघ्न है ; योगीके योगका विघ्न है ; भक्तके भक्तिसाधनका विघ्न है। रोग धर्म्मका परम विघ्न है।

अब तुम्हें समझना नहीं पड़ेगा कि शारीरिकी वृत्तियोंके उचित अनुशीलनका अभाव ही मुख्य करके रोगका कारण है।

शिष्य। ठण्ड लगनेकी जो बात आरम्भमें उठी थी क्या वह भी अनुशीलनका ही अभाव है।

गुरु। वह त्वचा नामक इन्द्रियके स्वास्थ्यकर अनुशीलनकी गड़बड़का फल है। शरीर तत्व विद्यामें तुम्हारी कुछ भी जानकारी होती तो इस बातको समझ सकते।

शिष्य। देखता हूं कि ज्ञानार्जनी वृत्तिका समुचित अनुशीलन हुए बिना शारीरिकी वृत्तिका अनुशीलन नहीं होता।

गुरु। हां। सब वृत्तियोंका ठीक ठीक अनुशीलन एक दूसरेके अनुशीलन पर है। केवल शारीरिकी वृत्तियोंका अनुशीलन ही ज्ञानार्जनी वृत्तियों पर मुनहसर नहीं है, कार्य्यकारिणी वृत्तियां भी उन पर मुनहसर हैं। यह बात ज्ञानसे जाननी होगी कि कौन काम किस उपायसे करना उचित है, किस वृत्तिका अनुशीलन कैसे होगा, कैसे अनुशीलनमें रुकावट होगी। ज्ञानके बिना तुम ईश्वरको भी नहीं जान सकोगे। किन्तु यह बात अभी रहे।

शिष्य। रहने देनेसे नहीं बनेगा। अगर वृत्तियोंका अनुशीलन एक दूसरे पर मुनहसर है तो किसका अनुशीलन पहले करूंगा ?

गुरु। सबका यथासाध्य अनुशीलन एक समय ही आरम्भ करना होगा ; अर्थात् बचपनमें।

शिष्य। ऐं ! बचपनमें मैं जानता नहीं कि किस प्रकारसे किस वृत्तिका अनुशीलन करना होगा। तब क्योंकर सब वृत्तियोंका अनुशीलन करूंगा ?

गुरु। इसीलिये शिक्षककी सहायता दरकार है। शिक्षक और शिक्षा बिना कभी मनुष्य मनुष्य नहीं होता ; सबको शिक्षकका आश्रय लेना कर्त्तव्य है। केवल बचपनमें ही क्यों, सदा हमको दूस-

ऐसे शिक्षा लेनेकी दरकार है। इसीसे तो हिन्दूधर्म्ममें गुरुका इतना मान है। अब गुरु नहीं हैं, गुरुका सम्मान नहीं है, इसीसे समाजकी उन्नति नहीं होती। भक्ति वृत्तिके अनुशीलनकी चर्चा जब करूंगा उस समय यह बात याद रखना। अब जो कहता था उसे कहता हूं।

(२) वृत्तियोंके इस प्रकार एक दूसरे पर मुनहसर होनेसे शारीरिकी वृत्तियोंके अनुशीलनकी दूसरी जरूरत या धर्म्मके दूसरे विघ्नकी बात पायी जाती है। जब दूसरी वृत्तियां शारीरिकी वृत्तियोंपर मुनहसर हुई तब ज्ञानार्जनी आदि वृत्तियोंके भलीभांति अनुशीलनके लिये शारीरिकी वृत्तियोंका भलीभांति अनुशीलन होना चाहिये। वास्तवमें यह बात निश्चित है कि शारीरिकी शक्तियोंके बलिष्ठ और पुष्ट न होनेसे मानसिक शक्तियां बलिष्ठ और पुष्ट नहीं होतीं, या अधूरी तेजी पाती हैं। शारीरिक स्वास्थ्यके लिये मानसिक स्वास्थ्यकी दरकार है और मानसिक स्वास्थ्यके लिये शारीरिक स्वास्थ्यका प्रयोजन है। युरोपके विज्ञानविशारद पण्डितोंने शरीर और मनका यह सम्बन्ध अच्छी तरह सिद्ध कर दिया है। हमारे देशमें आजकल जो कालिजी शिक्षा जारी है उसकी मुख्य निन्दा यही है कि उसमें विद्यार्थियोंकी शारीरिक फुर्तीकी ओर कुछ ध्यान नहीं दिया जाता। इससे केवल शारीरिक नहीं, असमय ही मानसिक अधःपतन भी हो जाता है। धर्म्म मानसिक शक्ति पर निर्भर करता है, इससे धर्म्मकी भी अधोगति होती है।

(३) किन्तु इस विषयमें तीसरा या तीसरा विघ्न और भी बड़ा है। जिसकी शारीरिक वृत्तियोंका उचित अनुशीलन नहीं हुआ वह आत्मरक्षा नहीं कर सकता। जो आत्मरक्षा नहीं कर सकता उसका धर्म्म कर्म्म क्योंकर निर्विघ्न होगा? सबके शत्रु हैं। डाकू हैं। वे सदा धर्म्ममें विघ्न करते हैं; इसके सिवा कितनी ही बार जो बलसे शत्रुको दबा नहीं सकता वह बलहीनताके कारण ही आत्मरक्षाके लिये अधर्म्मका आश्रय लेता है। आत्मरक्षाकी इतनी दरकार है कि परम धार्म्मिक भी ऐसी दशामें अधर्म्मका

आश्रय नहीं छोड़ सकता। महाभारतके रचियताने "अश्वत्थामा हत इति गजः" में * इसका बढ़िया उदाहरण दिया है। बलसे द्रोणाचार्य्यको हरानेमें असमर्थ होकर युधिष्ठिर सरीखे परम धार्म्मिक भी धोखा देनेको तय्यार हो गये।

शिष्य। पुराने समयके लिये यह बात घट सकती है, किन्तु आजकलके सभ्य समाजमें राजा ही सबकी रक्षा करते हैं। अब क्या आत्मरक्षाके लिये सबको उसी तरह समर्थ होना दरकार है?

गुरु। अवश्य ही यह कानून है कि राजा सबकी रक्षा करेंगे। किन्तु मौके पर ऐसा होता नहीं। राजा सबको रक्षा नहीं कर सकते। कर सकते तो इतनी खूनखराबियां, चोरी डकैतियां दङ्गे फसाद नित्य नहीं होते। पुलिसके विज्ञापन पढ़नेसे विदित हो जायगा कि जो आत्मरक्षामें असमर्थ हैं बहुधा उन्हीं पर ये सब अत्याचार होते हैं। बलवानके सामने कोई नहीं जाता। किन्तु तुम्हें यह भी समझना चाहिये कि आत्मरक्षाकी चर्चा उठाकर मैं केवल अपने शरीर या सम्पत्ति रक्षाकी बात नहीं कहता था। जब तुमसे प्रीतिवृत्तिका अनुशीलन बताऊंगा तब तुम समझोगे कि जैसे आत्मरक्षा हमारा अनुष्ठेय धर्म्म है वैसेही अपने स्त्री पुत्र परिवार स्वजन पड़ोसी आदिकी रक्षा भी हमारा अनुष्ठेय धर्म्म है। जो इसको नहीं करता वह बड़ा ही अधार्म्मिक है। इसलिये जिसको उसके योग्य बल या शारीरिक शिक्षा नहीं हुई वह भी अधार्म्मिक है।

(४) आत्मरक्षा या स्वजनरक्षा करे इस जिक्रसे धर्म्मके चोपे विघ्नकी बात उठती है। यह तत्त्व बहुत बड़ा है; धर्म्मका सबसे प्रधान अंश है। कितने ही महात्माओंने इस धर्म्मके लिये प्राण तक, प्राण ही क्या सब सुख त्याग दिया है। मैं स्वदेशरक्षाकी बात कह रहा हूं।

अगर आत्मरक्षा और स्वजनरक्षा धर्म्म है तो स्वदेशरक्षा भी

* महाभारतमें "अश्वत्थामा हत इति गजः" नहीं है, "हत कुञ्जरः" है।

धर्म्म है। समाजके एक एक आदमी जैसे दूसरे आदमीपर सर्वस्व लूट लेनेके लिये हमला करते हैं वैसेही एक एक समाज या देश भी दूसरे समाज या देशपर हमला करता है। मनुष्य जबतक राजा या धर्म्मके शासनमें नहीं पड़ता तबतक लूटकर खानेका मौका पाने पर नहीं चूकता। जिस समाजमें राजशासन नहीं है उस समाजके आदमी जिसका पाते हैं उसका छीनकर खाते हैं। उसी तरह विविध समाजों पर कोई एक राजा न हो तो जो समाज बलवान होता है वह दुर्बल समाजको लूट खाता है। असभ्य समाजकी बात नहीं कहता, सभ्य युरोपकी यह प्रचलित रीति है। आज फ्रांस जर्मनीका छीन लेता है, कल तुर्क ग्रीसका छीन लेता है, परसों रूस तुर्कका छीन लेता है, आज पोलेण्ड, कल बुलगेरिया, परसों मिसर। इन सबको लेकर युरोपियन सभ्य जातियां कुत्तोंकी तरह छीन झपट मार धाड़ किया करती हैं। जैसे आवारे कुत्ते जिसका जो पाते हैं छीन खाते हैं उसी तरह सभ्य असभ्य सब जातियां दूसरेका पाने-पर छीन लेती हैं। बलवान समाज दुर्बल समाज पर हमला कर-नेकी घातमें हमेशा रहता है। इसलिये देशरक्षा बिना आत्मरक्षा नहीं हो सकती। अगर आत्मरक्षा और स्वजनरक्षा धर्म्म है तो देशरक्षा भी धर्म्म है। बल्कि वह और भी बड़ा धर्म्म है, क्योंकि इसमें अपने और पराये दोनोंकी रक्षा होती है और धर्म्मोन्नतिका मार्ग साफ होता है। खुलासा समझाता हूं।

कुछ सामाजिक अवस्थाएं धर्म्मके उपयोगी और कुछ अनुप-योगी हैं। कुछ अवस्थाएं सब वृत्तियोंके अनुशीलन और परितृप्तिके अनुकूल हैं। और कोई कोई कुछ वृत्तियोंके अनुशीलन और परि-तृप्तिके प्रतिकूल हैं। बहुधा यह प्रतिकूलता राजा या राजपुरुषों द्वारा ही होती है। युरोपकी जिस अवस्थामें प्रोटेष्टाण्ट मतवालोंको राजा आगमें जलाया करते थे वह अवस्था इसका एक उदाहरण है; औरङ्गजेबका हिन्दूधर्म्मसे विद्वेष करना दूसरा उदाहरण है। समा-जकी जो अवस्था धर्म्मके अनुकूल है उसको स्वाधीनता कहते हैं। स्वाधीनता देशी बात नहीं है; विलायतसे इसकी आमद हुई है। यह लिबर्टी शब्दका अनुवाद है। इसका यह आशय नहीं है कि

राजा स्वदेशी होना चाहिये। कितने ही समय स्वदेशी राजा स्वाधीनताके शत्रु और विदेशी राजा स्वाधीनताके मित्र होते हैं। इसके बहुतसे उदाहरण दिये जा सकते हैं। यह धर्म्मोन्नतिके लिये बहुत आवश्यक है। इसलिये आत्मरक्षा, स्वजनरक्षा और स्वदेशरक्षाके लिये शारीरिकी वृत्तियोंका अनुशीलन सबको करना चाहिये।

शिष्य। अर्थात् सबको योद्धा बनाना चाहिये?

गुरु। इसका यह अर्थ नहीं है कि सबको युद्धका पेशा करना होगा। किन्तु सबको आवश्यकतानुसार युद्ध योग्य होना चाहिये। छोटे छोटे राज्योंमें सब बालिकोंको युद्ध सीखना पड़ता है; नहीं तो सेना इतनी थोड़ी होती है कि बड़ा राजा उन छोटे राज्योंको आसानीसे दबा ले सकते हैं। पुराने ग्रीक नगरमें इसीसे सबको लड़ना पड़ता था। बड़े राज्य या समाजमें युद्ध किसी खास श्रेणीके सपुर्द रहता है। प्राचीन भारतवर्षके क्षत्रिय और बीचके समयके भारतवर्षके राजपूत इसके उदाहरण हैं। किन्तु इसका फल यह होता है कि अगर वह खास श्रेणी हमला करने वालोंसे हार जाय तो फिर देशकी रक्षा नहीं होती। राजपूतोंके हारते ही भारतवर्ष मुसलमानोंके अधिकारमें आ गया। अगर राजपूतोंके सिवा भारतकी दूसरी जातियां भी युद्ध करना जानतीं तो भारतवर्षको वह दुर्दशा नहीं होती। सन् १७८३ ईस्वीमें फ्रांसके सब बालिग पुरुषोंने अस्त्र धारण कर समूचे युरोपको हरा दिया था। यदि वे ऐसा न करते तो फ्रांसकी बड़ी दुर्दशा होती।

शिष्य। किस प्रकारके शारीरिक अनुशीलनसे यह धर्म्म सम्पन्न हो सकता है?

गुरु। केवल बलसे नहीं हो सकता। गंवारोंके साथ लड़नेके लिये केवल शारीरिक बल ही काफी है; किन्तु वर्त्तमान शताब्दीमें शारीरिक बलकी अपेक्षा शारीरिक शिक्षा ही अधिक दरकार है। आजकल पहले शारीरिक बल और रग पुट्टे आदिकी पुख्तगीके लिये कसरत दरकार है। इस देशमें डण्ड कुश्ती मुग्दर आदि तरह तरहकी कसरतोंका रिवाज था। नहीं जानते क्यों अङ्गरेजी सभ्य-

तामें पड़कर हम लोगोंने इन कसरतोंको छोड़ दिया। हमारी बुद्धिके फेरका यह उदाहरण है।

दूसरा और मुख्य शारीरिक अनुशीलन अस्त्र शिक्षा है। सबको सब तरहके हथियार चलानेमें चतुर होना चाहिये।

शिष्य। किन्तु आजकलके कानूनसे तो हमें हथियार रखना मना है।

गुरु। यह कानूनकी भूल है। हम लोग महाराजकी राजभक्त प्रजा हैं, हमारा उद्देश्य यही है कि अस्त्र धारण कर हम उनके राज्यकी रक्षा करें। आईनकी भूल पीछे सुधारी जा सकती है।

इसके बाद अस्त्र शिक्षाके सिवा शारीरिक धर्म्म पूरा करनेके लिये और कुछ शारीरिक शिक्षा दरकार है। जैसे घोड़े पर चढ़ना, युरोपमें जो आदमी घोड़े पर नहीं चढ़ सकता और जिसने अस्त्र चलाना नहीं सीखा समाजमें उसकी हँसी होती है। विलायती स्त्रियोंमें भी ये शक्तियां होती हैं। हमारी क्या ही दुर्दशा है!

घोड़े पर चढ़नेकी तरह दूर तक पैदल चलना और तैरना भी शारीरिक धर्म्मशिक्षा है; योद्धाका काम तो इनके बिना चल ही नहीं सकता, परन्तु केवल योद्धाके लिये ही इनकी जरूरत न समझना। जो तैरना नहीं जानता वह जलसे अपनी और दूसरोंकी रक्षा नहीं कर सकता। युद्धके समय केवल जलसे अपनी और दूसरोंकी रक्षाके लिये ही यह जरूरी नहीं है; चढ़ाई करने, चढ़ाई रोकने और भागनेके लिये भी अक्सर इसकी जरूरत पड़ती है। और पैदल दूर तक जाना तो जरूरी है ही। मनुष्य मात्रके लिये यह बहुत जरूरी है।

शिष्य। इसलिये जो शारीरिक वृत्तियोंका अनुशीलन करेगा उसका केवल शरीर पुष्ट और बलवान होनेसे ही नहीं बनेगा। उसका कसरतमें चतुर—

गुरु। इस कसरतमें कुश्ती लड़नेको भी शामिल रखना होगा। यह बहुत बढ़ानेवाली कसरत है। आत्मरक्षा और परोपकारके लिये बड़े कामकी है।*

शिष्य। इसलिये चाहिये शरीर पुष्टि, कसरत, कुश्ती, अस्त्र-शिक्षा, घोड़े पर चढ़ना, तैरना, दूर तक पैदल चलना—

गुरु। और चाहिये सहिष्णुता। सर्दी, गर्मी, भूख, प्यास, थकावट आदि सबको सहनेकी शक्ति चाहिये। इसके सिवा योद्धाके लिये कुछ और भी चाहिये। जरूरत पड़ने पर मट्टी खोद सके, घर उठा सके, बोझ ढो सके। अकसर सैनिकोंको दस बारह दिनका भोजन अपने पीठ पर लादकर ले जाना पड़ता है। खुलासा यह है कि जो लुहार अपनी विद्या जानता है वह जैसे हथियारको तेज कर सान देकर सब चीजें काटने योग्य बना लेता है वैसे ही शरीरको एक तेज अस्त्र बनाना होगा जिससे सब काम पूरा हो।

शिष्य। किस उपायसे ऐसा हो सकता है?

गुरु। इसके उपाय (१) कसरत (२) शिक्षा (३) आहार और (४) इन्द्रिय संयम है; चारो ही अनुशीलन हैं।

शिष्य। इनमेंसे कसरत और शिक्षाके विषयमें आपका उपदेश सुन चुका। किन्तु आहारके विषयमें कुछ पूछना है। वाचस्पतिजीके साग भातकी बात याद कीजिये। क्या उतना ही भोजन करना धर्म्मकी आज्ञा है? क्या उससे अधिक खाना अधर्म्म है? आपने तो ऐसा ही कहा था।

गुरु। मैंने कहा है कि शरीरकी रक्षा और पुष्टिके लिये अगर वही काफी हो तो उससे अधिक चाहना अधर्म्म है। यह बात वैज्ञानिक लोग बतावेंगे कि शरीरकी रक्षा और पुष्टिके लिये कैसा आहार चाहिये; धर्म्मोपदेशकका यह काम नहीं है। शायद वे लोग कहेंगे कि साग भात शरीरकी रक्षा और पुष्टिके लिये काफी नहीं है। कोई यह भी कह सकता है कि वाचस्पतिजी सरीखे जो लोग सिर्फ बैठे बैठे दिन काटते हैं उनके लिये वही काफी है। जो हो उस बखेड़ेसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। वैज्ञानिकका काम वैज्ञानिक

कुमारी अनुशीलनके उदाहरण स्वरूप बनायी गयी है। इसीसे स्त्री होने पर भी उसको लड़ना सिखाया गया है।

करेगा। आहारके विषयमें जो यथार्थ धर्म्मोपदेश है जो स्वयं श्रीकृष्णका वचन है उसीको गीतासे मैं तुम्हें सुनाता हूं।

आयुः सत्त्वबलारोग्य सुख प्रीति विवर्द्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥ १७।८

जो आहार आयु, उत्साह, बल, स्वास्थ्य,सुख या चित्तका प्रसाद और रुचिको बढ़ानेवाला हो; जो रसयुक्त और तर है, जिसका सारांश शरीरमें रह जाता है और जिसको देखनेसे खानेकी इच्छा होती है, वही सात्विकको प्यारा है।

शिष्य। इसमें शराब, मांस, मछली खानेकी आज्ञा हुई या निषेध हुआ?

गुरु। वह वैज्ञानिकके विचारने योग्य है। शारीरतत्त्वज्ञ या वैद्यको पूछना कि वे आयु, सत्त्व, बल, आरोग्य, सुख, प्रीति और इत्यादि बढ़ानेवाले गुणोंसे युक्त हैं कि नहीं।

शिष्य। हिन्दू शास्त्रकारोंने तो इन चीजोंको मनाकर दिया है।

गुरु। मेरी समझमें वैज्ञानिक या वैद्यके आसन पर धर्म्मोपदेशक या व्यवस्थापकको बैठाना उचित नहीं है। तथापि यह नहीं कह सकता कि हिन्दू शास्त्रकारोंने शराब और मांसको मना करके बुरा किया है। वरञ्च इससे यही मालूम होता है कि अनुशीलन तत्त्व उनकी सब विधियोंका मूल था। यह बात शायद तुम्हें समझानी नहीं पड़ेगी कि शराब बुरी चीज है, अनुशीलनकी हानि पहुंचानेवाली है और चाहे जिसको तुम कहो उसमें विघ्न देनेवाली है। शराबको मना करके हिन्दू शास्त्रकारोंने अच्छा ही किया है।

शिष्य। किसी अवस्थामें शराबकी विधि नहीं है?

जिस बीमार आदमीका रोग बिना शराबके अच्छा नहीं होगा उसके लिये शराबकी विधि हो सकती है। शीतप्रधान देशमें या दूसरे देशोंमें सर्दीकी ज्यादती मिटानेके लिये व्यवहार की जा सकती है। बेहद्द शारीरिक या मानसिक थकावट होने पर व्यवहार की जा सकती है। किन्तु यह विधि भी वैद्यसे लेनी होगी, धर्म्मोपदे-

सकते नहीं। परन्तु एक ऐसी अवस्था है जिस समय वैज्ञानिक या वैद्यकी सलाह या किसी विधिकी परवा न करके अन्दाजके साथ शराब पी सकते हो।

शिष्य। वह कौनसी अवस्था है।

गुरु। वह अवश्य युद्धकाल है। युद्धकालमें शराब पीना धर्म्मकी आज्ञा है। उसका कारण यही है कि जिन वृत्तियोंमें विशेष फुर्ती आनेसे युद्धमें जीत होती है, अन्दाजसे शराब पीने पर उनमें विशेष फुर्ती आती है। हिन्दूधर्म्मके प्रतिकूल यह बात नहीं है। महाभारतमें लिखा है कि जयद्रथ बधके दिन अकेले व्यूह भेद करके अर्जुनके शत्रुसेनामें घुस जाने पर युधिष्ठिर दिन भर उनका कुछ समाचार न पाकर व्याकुल हो गये थे। सात्यकीके सिवा और कोई ऐसा वीर नहीं था जो उस व्यूहको भेद करके उनकी खोजमें जाता। युधिष्ठिरने इस कठिन कार्य्यके लिये सात्यकीको आज्ञा दी। सात्यकीने इसके उत्तरमें बढ़िया शराब मांगी। युधिष्ठिरने उनको बहुत ज्यादा बढ़िया शराब दी। मार्कण्डेय पुराणमें पढ़ते हैं कि स्वयं कालिकाको असुर बधके लिये शराब पीनी पड़ी थी।

सन् १८५७ ई०के गदरके समय चीनहाटकी लड़ाईमें अङ्गरेजी सेना हिन्दू और मुसलमानोंसे हार गयी। स्वयं सर हेनरी लारेंस उस युद्धमें अङ्गरेजी सेनाके नायक थे; तौभी अङ्गरेजोंकी हार हुई थी। अङ्गरेज इतिहास लेखक सर जान केने इसका यह कारण बताया है कि अङ्गरेजी सेनाको उस दिन शराब नहीं मिली थी। यह बात असम्भव नहीं है।

जो हो, शराबके विषयमें मेरी यह राय है कि (१) युद्धकालमें अन्दाजसे शराब पी सकते हो (२) बीमारी आदिमें अच्छे वैद्यकी सलाहसे पी सकते हो। बस और किसी समय पीना अविधेय है।

शिष्य। मछली मांसके विषयमें आपकी क्या राय है?

गुरु। ऐसा समझनेका कोई कारण नहीं है कि मछली मांस शरीरके नुकसान पहुंचानेवाले नहीं हैं। वे शरीरको फायदा भी पहुंचा सकते हैं। किन्तु इसका विचारभार वैज्ञानिकके हाथमें है। धर्म्मवेत्ताका यही कहना है कि मछली मांस खानेसे प्रीतिवृत्तिके अनुशी

उनमें कुछ विरोध पड़ता है। सब जीवोंपर प्रीति हिन्दूधर्मका सार तत्त्व है। अनुशीलन तत्त्वमें भी यही बात है। अनुशीलन हिन्दू धर्मके अन्तर्गत है, अलग नहीं है। शायद इसीसे हिन्दूशास्त्रकारोंने मछली मांस खानेसे निषेध किया है। किन्तु इसके भीतर और एक बात है। मछली मांस न खानेसे शारीरिक वृत्तियोंमें पूरी फुर्ती आती है कि नहीं? यह बात वैज्ञानिकोंके विचारनेकी है। अगर विज्ञान-शास्त्र कहे कि न खानेसे पूरी फुर्ती नहीं आती तब प्रीतिवृत्तिकी अनुचित वृद्धि होती है, सामञ्जस्य बिगड़ जाता है। ऐसी अवस्थामें मछली मांस खाना चाहिये। परन्तु इस बातका विचार विज्ञानके ऊपर है। पहले ही कह चुका हूं कि धर्मोपदेशकको वैज्ञानिकका आसन लेना उचित नहीं है।

शारीरिक वृत्तियोंके अनुशीलनकी जरूरी चीजोंमें (१) कसरत (२) शिक्षा और (३) आहारका जिक्र कर चुका। अब (४) इन्द्रिय संयमके विषयमें भी एक बात कहनी चाहिये। शायद यह समझाना नहीं पड़ेगा कि शारीरिक वृत्तियोंके सदनुशीलनके लिये इन्द्रियसंयम बहुत ही जरूरी है। इन्द्रियसंयमके विना शरीरकी पुष्टि नहीं होती, बल नहीं होता, कसरतकी सम्भावना नही रहती, शिक्षा निष्फल होती है, आहार वृथा होता है, वह पचता नहीं और यह भी तुमको समझाया है कि इन्द्रियोंका संयम ही इन्द्रियोंका उपयुक्त अनुशीलन है। अब तुम याद रखो कि इन्द्रियसंयम मानसिक वृत्तियोंके अनुशीलनके अधीन है; मानसिक शक्तिके विना इन्द्रिय-संयम नहीं होता। अतएव जैसे पहले समझा है कि मानसिक वृत्तियोंका उचित अनुशीलन शारीरिकी वृत्तियोंके अनुशीलन पर मुनहसर है वैसे ही अब समझ रहे हो कि शारीरिक वृत्तियोंका उचित अनुशीलन मानसिक वृत्तियों पर मुनहसर है। शारीरिक और मानसिक वृत्तियोंका परस्पर ऐसा ही सम्बन्ध है; एकका अनुशीलन न होनेसे दूसरीका अनुशीलन नहीं होता। इसलिये जो धर्मोपदेशक केवल मानसिक वृत्तियोंके अनुशीलनका उपदेश ही देते हैं उनका बताया हुआ धर्म अधूरा है। जिस शिक्षाका उद्देश्य केवल ज्ञान मात्र

करता है, वह शिक्षा अधूरी है; इसलिये धर्म्म विरुद्ध है। कालिजमें पढ़नेसे ही लड़का मनुष्य नहीं बनता। और कई पोथियां पढ़नेसे भी पण्डित नहीं होता, पाण्डित्यके विषयमें यह रिवाज बड़ी हानि पहुंचा रहा है।

नवां अध्याय—ज्ञानार्ज्जनी वृत्तियां।

—:o:—

शिष्य। शारीरिक वृत्तियोंके अनुशीलनके विषयमें कुछ उपदेश पाया है। अब ज्ञानार्ज्जनी वृत्तियोंके अनुशीलनके बारेमें कुछ सुनना चाहता हूं। मैंने जो कुछ समझा है वह यही है कि दूसरी वृत्तियोंकी तरह इन वृत्तियोंके अनुशीलनमें सुख है, वही धर्म्म है। इसलिये ज्ञानार्ज्जनी वृत्तियोंका अनुशीलन और ज्ञान प्राप्त करना होगा।

गुरु। यह पहली आवश्यकता है। दूसरी आवश्यकता यह है कि ज्ञान प्राप्त किये बिना दूसरी वृत्तियोंका अनुशीलन भलीभांति नहीं किया जा सकता। शारीरिक वृत्तियोंके उदाहरणसे यह बात समझा चुका हूं। इसके सिवा तीसरी आवश्यकता भी है और वह शायद सबसे बड़ी है। ज्ञानके बिना ईश्वर जाना नहीं जाता। ईश्वरकी विधिपूर्वक उपासना नहीं की जा सकती।

शिष्य। तो क्या मूर्खोंमें ईश्वरोपासना नहीं है? ईश्वर क्या केवल पण्डितोंके लिये हैं?

गुरु। मूर्खोंमें ईश्वरोपासना नहीं है। यह कहना भी अनुचित नहीं होगा कि मूर्खोंमें धर्म्म नहीं है। पृथिवी पर जान बूझकर किये हुए जितने पाप देखनेमें आते हैं वे प्रायः सभी मूर्खों द्वारा होते हैं। परन्तु एक भूल सुधारे देता हूं। जो पढ़ना लिखना नहीं जानता उसीको मूर्ख मत समझना। और जो पढ़ना लिखना जानता है

उसीको ज्ञानी मत समझ लेना। ज्ञान पुस्तक पढ़नेके सिवा और तरहसे भी प्राप्त हो सकता है; ज्ञानार्ज्जनी वृत्तियोंका अनुशीलन विद्यालयके सिवा दूसरी जगह भी हो सकता है। हमारे देशकी पुराने समयकी स्त्रियां इसका उत्तम उदाहरण हैं। इनमेंसे प्रायः कोई पढ़ना लिखना नहीं जानती थीं; किन्तु उनके समान धार्म्मिक भी पृथिवी पर मिलना दुर्लभ है। परन्तु वे चाहे पुस्तकें न पढ़ें, मूर्ख नहीं थीं। हमारे देशमें ज्ञान प्राप्त करनेके कई उपाय थे, जो अब लुप्तप्राय हो गये हैं। कथा बांचना उनमेंसे एक है। पुरानी स्त्रियां पण्डितोंके मुंहसे पुराण और इतिहास सुनती थीं। पुराण और इतिहासोंमें अनन्त ज्ञानका भण्डार है। उनके सुननेसे उनकी ज्ञानार्ज्जनी वृत्तियां परिमार्जित और परितृप्त होती थीं। इसके सिवा हमारे देशमें हिन्दूधर्म्मकी महिमासे पीढ़ी दर पीढ़ी एक अपूर्व ज्ञानकी धारा चली आती थी। वे उसकी अधिकारिणी थीं। इन सब उपायोंसे वे शिक्षित बाबुओंसे बहुत बातें अच्छी तरह जानती थीं। उदाहरणके लिये अतिथि-सत्कारको लो। अतिथि-सत्कारकी महिमा ज्ञानसे जानी जाती है; जगत्‌की सत्ताके साथ इसका विशेष सम्बन्ध है। हमारा शिक्षित दल अतिथिका नाम सुनते ही जल उठता है; भिखारीको देखते ही लाठी लेकर दौड़ता है। किन्तु इन लोगोंको जो ज्ञान नहीं है वह पुरानी स्त्रियोंमें था; वे अतिथि-सत्कारकी महिमा समझती थीं। ऐसे सैकड़ों उदाहरण दिये जा सकते हैं। इसलिये इस विषयमें यही कहना होगा कि निरक्षर प्राचीन स्त्रियां ज्ञानी थीं और हमारा शिक्षित-दल अज्ञान है।

शिष्य। यह शिक्षित-दलका दोष नहीं है, शायद अङ्गरेजी शिक्षाका यह दोष है।

गुरु। निस्सन्देह। मैंने जो अनुशीलनतत्त्व तुमको समझाया है अर्थात् सब वृत्तियोंका सामञ्जस्य स्थिर रखकर अनुशीलन करना होगा। इस बातका न समझना ही इस दोषका कारण है।

लोगोंको विश्वास है कि अमुक अमुकको अमुक अमुक वृत्तियोंका अनुशीलन करना चाहिये और इसीके अनुसार काम होता

है। इसी विश्वासका फल वर्त्तमान शिक्षाप्रणाली है। इस शिक्षाप्रणालीमें तीन बड़े बड़े दोष हैं। मनुष्यत्व तत्त्वपर ध्यान देनेसे ही उन दोषोंका पता लगाकर उनके दूर करनेका उपाय किया जा सकता है।

शिष्य। वे दोष क्या क्या हैं?

गुरु। पहला दोष ज्ञानार्ज्जनी वृत्तियोंकी ओर ही अधिक ध्यान और कार्य्यकारिणी या चित्तरञ्जिनीकी ओरसे लापरवाही है।

इसी रिवाजके अनुसार आजकलके शिक्षक शिक्षालयोंमें शिक्षा देते हैं। इन्हींसे इस देशमें और युरोपमें इतना नुकसान हो रहा है। इस देशके पढ़े लिखे लोग अमानुष होते हैं; तर्ककुशलता वाग्मीता या सुलेखकता—यही अङ्गरेजी पढ़नेवालोंकी चरमोन्नति है। इसीके प्रभावसे युरोपके किसी प्रदेशके आदमी केवल शिल्पकुशल, अर्थलोलुप और स्वार्थी होते हैं; किसी प्रदेशमें युद्धप्रिय, परधनहारी पिशाच पैदा होते हैं। इसीके प्रभावसे युरोपमें इतने युद्ध होते हैं, दुर्बल इतने सताये जाते हैं। शारीरिकी वृत्ति, कार्य्यकारिणी वृत्ति, मनोरञ्जिनी वृत्ति इत्यादि सबका सामञ्जस्य रखकर जिस बुद्धिवृत्तिका अनुशीलन होता है वही मङ्गलदायक है; उनसे लापरवाही और बुद्धिवृत्तिकी अनुचित स्फूर्त्ति मङ्गलदायक नहीं है। हमारे साधारण लोगोंका धर्म्म सम्बन्धी विश्वास ऐसा नहीं है। हिन्दुओंके पूजनीय देवताओंको प्रधानता, रूपवान चन्द्रमा या बलवान कार्त्तिकेयको नहीं दी गयी है; बुद्धिमान वृहस्पति या ज्ञानी ब्रह्माको अर्पित नहीं हुई है; रसज्ञ गन्धर्वराज या वाग्देवीमें नहीं है। केवल उन्हीं सर्वाङ्ग-सम्पन्न अर्थात् सर्व अङ्गोंसे पूर्ण षड़ैश्वर्य्य-शाली विष्णुमें है। अनुशीलन नीतिकी स्थूल गांठ यही है कि सब प्रकारकी वृत्तियोंका परस्पर सामञ्जस्य रखकर अनुशीलन हो, कोई किसीको कम करके अनुचित रूपसे न बढ़ने पावे।

शिष्य। यह तो हुआ एक दोष। और?

गुरु। वर्त्तमान शिक्षाप्रणालीकी दूसरी भूल यह है कि सबको एक एक या खास खास विशेषत्वमें प्रवीण होना पड़ता है—सबको सब विषय सीखनेकी दरकार नहीं है। जिससे बने वह अच्छी तरह

विज्ञान सीखे, उसको साहित्यकी दरकार नहीं है। जिससे बनें वह साहित्य भलीभांति सीखे, उसको विज्ञानकी दरकार नहीं। इस दशामें सब मानसिक वृत्तियोंकी स्फूर्त्ति और पूर्णता कहांसे हो? सभी अधूरे आदमी बनें तो पूरे आदमी कहां मिलें? जो विज्ञानमें चतुर है किन्तु काव्यरसादिके स्वादसे वञ्चित है वह केवल आधा आदमी है। अथवा जो सौन्दर्य्यप्रेमी सर्वसौन्दर्य्यका रसग्राही है, किन्तु जगत्‌के अपूर्व वैज्ञानिक तत्त्वको नहीं जानता वह भी अधूरा आदमी है। दोनों ही मनुष्यत्वविहीन हैं; इसलिये धर्म्मसे पतित हैं। जो क्षत्रिय युद्धविशारद है, किन्तु राजधर्म्मसे अनभिज्ञ है अथवा जो क्षत्रिय-धर्म्म जानता है किन्तु रणविद्यामें अनभिज्ञ है, वह हिन्दू शास्त्रानुसार धर्म्मच्युत है। वैसेही ये लोग भी धर्म्मच्युत हैं—यही असली हिन्दूधर्म्मका मर्म्म है।

शिष्य। आपकी धर्म्मव्याख्याके अनुसार सबको सब कुछ सीखना होगा।

गुरु। नहीं, ठीक ऐसा नहीं है। सबको सब मनोवृत्तियां संकर्षित करनी होंगी।

शिष्य। वही सही, किन्तु ऐसा क्या सबसे हो सकता है? सबकी सब वृत्तियां एक समान तेजस्विनी नहीं होतीं। किसीकी विज्ञानानुशीलनी वृत्तियां अधिक तेजस्विनी होती हैं, साहित्यानुशायिनी वृत्तियां उसकी वैसी नहीं होतीं। विज्ञानका अनुशीलन करनेसे वह एक बड़ा भारी वैज्ञानिक हो सकता है; किन्तु साहित्यके अनुशीलनसे उसको कुछ फल नहीं होगा, ऐसी दशामें क्या उसको साहित्य और विज्ञानमें एक समान मन लगाना चाहिये?

गुरु। प्रतिभाका विचार करते समय जो कुछ कहा है उसको याद करो। वही इसका उत्तर है। अब तीसरा दोष सुनो।

ज्ञानार्ज्जनी वृत्तियोंके सम्बन्धमें एक बड़ी आम भूल यह है कि संकर्षण अर्थात् शिक्षाका उद्देश्य ज्ञानार्ज्जनी वृत्तियोंमें स्फूर्त्ति लाना नहीं है। अगर कोई वैद्य रोगीको भर पेट पथ्य देनेके लिये फिक्रमन्द हो, मगर उसकी भूख बढ़ने या हाजमा शक्तिकी ओर कुछ भी ख्याल न रखे तो वह वैद्य जैसा भ्रान्त है वैसेही इस प्रणालीके

शिक्षक भी भ्रान्त हैं। जैसे उस वैद्यकी चिकित्साका फल अजीर्ण और रोगवृद्धि है वैसे ही इस ज्ञानार्ज्जन-वातिकग्रस्त शिक्षकोंकी शिक्षाका फल मानसिक अजीर्ण अर्थात् सब वृत्तियोंकी अवनति है। रटो, घोखो, कि जिससे पूछते ही धड़धड़ाकर कह सको। इसके बाद बुद्धि तेज हुई या सूखी लकड़ी खाते खाते निस्तेज हो गयी, अपनी शक्ति अवलम्बन करनेवाली नयी या पुरानी-पुस्तकोंके प्रणेता और समाजके शासनकर्त्ता रूपी बूढ़ी दादियोंका आंचल पकड़कर चली, ज्ञानार्ज्जनी वृत्तियां बूढ़े बच्चेकी तरह केवल खिला देनेसे ही निगलने लायक हुई या स्वयं आहार ढूंढने योग्य हुईं, इस विषयकी चिन्ता कोई भूलसे भी नहीं करता। ये सब शिक्षित-गर्दभ ज्ञानका बोझ पीठ पर लादकर व्याकुल चित्तसे घूमते हैं, विस्मृति नामक करुणामयी देवी आकर जब बोझ उतार लेती है तब झुण्डमें मिल-कर आनन्दसे घास चरा करते हैं।

शिष्य। हमारे देशके शिक्षित समाज पर आपकी इतनी नाराजी क्यों है?

गुरु। मैं केवल अपने देशके शिक्षित-समाजकी बात नहीं कहता था। आजकलके अङ्गरेजोंकी शिक्षा भी ऐसी ही है। हम लोग जिन हुजूरोंकी नकल करके जन्मसार्थक करना चाहते हैं उनकी बुद्धि भी सङ्कीर्ण और ज्ञान कष्टदायक है।

शिष्य। अङ्गरेजोंकी बुद्धि सङ्कीर्ण है! आप क्षुद्र बङ्गाली होकर इतनी बड़ी बात कहनेका साहस करते हैं? फिर ज्ञान कष्ट-दायक है?

गुरु। एक एक करके, भैया! अङ्गरेजोंकी बुद्धि सङ्कीर्ण है, यह बात क्षुद्र बङ्गाली होकर कहता हूं। मैं गोष्पद होनेसे गड्ढेको समुद्र कहूंगा ऐसा नहीं हो सकता। जिस जातिने एक सौ बीस (अब डेढ़ सौ) वर्षों तक भारतवर्ष पर हुकूमत करके भारतवासियोंके विषयमें एक बात भी नहीं समझी, उनके चाहे लाखों गुण मान लूंगा, किन्तु उनको बड़ी बुद्धि वाले नहीं कह सकता। इस बातको बहुत बढ़ानेकी दरकार नहीं है, कड़वा हो जायगा। अलबत्ते यह बात स्वीकार कर लेता हूं कि अङ्गरेजोंकी अपेक्षा भी सङ्कीर्ण मार्गमें

बङ्गालियोंकी वृद्धि आ रही है। मुक्तकण्ठसे स्वीकार करता हूं कि अङ्गरेजोंकी शिक्षाको अपेक्षा भो हमारी शिक्षा निकृष्ट है। किन्तु हमारी इस कुशिक्षाकी जड़ युरोपका दृष्टान्त है। हमारी प्राचीन शिक्षा चाहे और भी निकृष्ट रही हो किन्तु इसीसे वर्त्तमान शिक्षाको उत्तम नहीं कह सकता। एक उज्र दूर हुआ तो?

शिष्य। यह अभीतक समझमें नहीं आया कि ज्ञान कष्टदायक है।

गुरु। ज्ञान स्वास्थ्यकर है और कष्टदायक भी है। आहार स्वास्थ्यकर है और अजीर्ण होने पर कष्टदायक है। अजीर्ण ज्ञान कष्टदायक है अर्थात् कुछ बातें जान गया हूं किन्तु जो कुछ जाना है उन सबका क्या सम्बन्ध है, सबके सम्बन्धका क्या फल है, यह कुछ नहीं जानता; घरमें बहुतसे चिराग जलते हैं, केवल सीढ़ी पर अन्धेरा है। अज्ञान-रोगग्रस्त आदमी नहीं जानते कि इस ज्ञानसे क्या करना होता है। एक अंगरेजने स्वदेशसे नये आकर एक बाग खरीदा था। मालीने बागसे नारियल तोड़कर साहबको उपहार दिया। साहबने उसका छिलका खानेके बाद उसे बेस्वाद कहकर फेक दिया। मालीने सिखाया—"साहब! छिलका नहीं खाया जाता, गरी खायी जाती है।" इसके बाद आम आया, साहबने मालीकी बात याद कर छिलका वगैरह फेककर गुठली खायी। देखा कि इस बार भी उतना स्वाद नहीं आया। मालीने कहा—"साहब! केवल छिलका फेककर गूदा छुरीसे काटकर खाना होता है।" साहबको यह बात याद रही, अन्तमें ओल आया। साहबने उसका छिलका फेककर गूदा खाया। पीछे तकलीफसे हैरान होकर मालीको बहुत मारा और बागको कानी कौड़ीपर बेंच दिया। कितनोंहीके मानस-क्षेत्र इस बागकी तरह फल और फूलोंसे लदे होते हैं; परन्तु वे उन्हे भोग नहीं सकते। वे छिलकेकी जगह—गरी और गरीकी जगह छिलका खाकर बैठे रहते हैं। ऐसा ज्ञान विड़म्बना मात्र है।

शिष्य। तो क्या ज्ञानार्ज्जनी वृत्तियोंके अनुशीलनके लिये ज्ञान दरकार नहीं?

गुरु। पागल! अस्त्रको तेज करनेके लिये क्या शून्यपर शान धराया जाता है? ज्ञेय वस्तुके बिना किसपर अनुशीलन करोगे? ज्ञानार्ज्जनी वृत्तियोंके अनुशीलनके लिये ज्ञानार्ज्जनकी अवश्य दरकार है। परन्तु मैं यह समझाना चाहता हूं कि ज्ञानार्ज्जन जैसे अनुशीलनका उद्देश्य है वैसे ही वृत्तियोंका विकाश भी उसका मुख्य उद्देश्य है। और यह भी याद रखना होगा कि ज्ञान प्राप्त करनेमें ही ज्ञानार्ज्जनी वृत्तियोंकी परितृप्ति है। अतएव चरम उद्देश्य ज्ञानार्ज्जन है, किन्तु जो अनुशीलन प्रथा जारी है उससे पेट बड़ा न होनेपर भी आहार ठूस दिया जाता है। हाजमा शक्तिको बढ़ानेकी ओर दृष्टि नहीं, भूख बढ़ानेकी ओर नजर नहीं, आधार बढ़ानेकी ओर दृष्टि नहीं, किन्तु ठूसते गये। जैसे कुछ अबोध माताएं योंही बच्चोंकी शारीरिक अवनति करती हैं वैसे ही आज कलके पिता और शिक्षक पुत्र और छात्रोंकी अवनति करते हैं।

ज्ञानार्ज्जन धर्म्मका एक प्रधान अंश है। किन्तु आजकल इस विषयमें ये तीन सामाजिक पाप मौजूद हैं। धर्म्मका असली तात्पर्य्य समाजमें जब लिया जायगा तब यह कुशिक्षा रूपी पाप समाजसे दूर होगा।

दसवां अध्याय—मनुष्य पर भक्ति।

—:o:—

शिष्य। गुरु सब वृत्तियोंकी पूरी स्फूर्त्ति, पूर्णता, सामञ्जस्य और चरितार्थता है। वृत्तियोंकी पूरी स्फूर्त्ति, पूर्णता और सामञ्जस्यमें मनुष्यत्व है। वृत्तियां शारीरिकी, ज्ञानार्ज्जनी, कार्य्यकारिणी और चित्तरञ्जिनी हैं। उनमेंसे शारीरिकी और ज्ञानार्ज्जनी वृत्तियोंकी अनुशीलन-विधिके विषयमें कुछ उपदेश पा चुका हूं। पूरी कार्य्यकारिणी वृत्तियोंका अनुशीलन क्या है, यह भी सामञ्जस्य समझनेके समय भय, क्रोध, लोभ इत्यादिके उदाहरणसे समझा है।

बुरी कार्य्यकारिणी वृत्तियोंके विषयमें, शायद आपको और कुछ उपदेश देना नहीं है, यह भी समझा है। किन्तु यह सब तो अनुशीलन तत्त्वका मामूली अंश है। बाकी जो सुनने योग्य है उसे सुनना चाहता हूं।

गुरु। अब वैसी वृत्तियोंकी चर्चा करूंगा जिनको कार्य्यकारिणी वृत्तियोंमें लोग उत्तम कहते हैं। वृत्तियोंको जिस विचारसे घटिया या बढ़िया कहते हैं उस विचारसे ये दो वृत्तियां, भक्ति और प्रीति सबसे बढ़िया हैं।

शिष्य। भक्ति और प्रीति क्या दोनों एक वृत्ति नहीं हैं? प्रीति ईश्वरमें लगानेपर ही वह भक्ति हो जाती है न?

गुरु। अगर ऐसा कहना चाहते हो तो उसमें मुझे इस समय कुछ उज्र नहीं है; किन्तु अनुशीलनके लिये दोनोंको अलग अलग समझना ही अच्छा है। विशेषकर यह बात नहीं है कि ईश्वरमें लगायी हुई प्रीति ही भक्ति है। मनुष्य—जैसे राजा, गुरु, पिता, माता, स्वामी प्रभृति भी भक्तिके पात्र हैं। और ईश्वरमें भक्ति हुए बिना भी प्रीति पैदा हो सकती है।

किन्तु अभी ईश्वर-भक्तिकी बात रहे। पहले मनुष्य-भक्तिकी बात कही जाय। जो हमसे श्रेष्ठ हैं और जिनकी श्रेष्ठतासे हमारा उपकार होता है, वेही भक्तिके पात्र हैं। भक्तिकी सामाजिक आवश्यकता यह है कि (१) भक्तिके बिना बुरा कभी भलेका अनुगामी नहीं होता, (२) बुरा भलेका अनुगामी न हो तो समाजका ऐक्य नहीं रहता, बन्धन नहीं रहता, उन्नति नहीं होती।

देखना चाहिये कि मनुष्योंमें कौन कौन भक्तिके पात्र हैं। (१) पिता माता भक्तिके पात्र हैं। यह समझाना नहीं पड़ेगा कि वे हमसे श्रेष्ठ हैं। गुरु ज्ञानमें श्रेष्ठ हैं, हमारे ज्ञानदाता हैं, इसलिये वे भी भक्तिके पात्र हैं। गुरुके बिना मनुष्यका मनुष्यत्व ही असम्भव है; यह बात शारीरिक वृत्तियोंकी आलोचनामें बता चुका हूं। इसलिये गुरु विशेष प्रकारसे भक्तिके पात्र हैं। हिन्दू धर्म्म सर्वतत्त्वदर्शी है, इसीलिये हिन्दू-धर्म्ममें गुरुभक्तिपर विशेष दृष्टि रखी गयी है। पुरोहित, अर्थात् जो ईश्वरसे हमारा मङ्गल मनाते हैं,

हमारा पूरा हित चाहते हैं और हमारी अपेक्षा धर्म्मात्मा और पवित्रस्वभाव हैं, वेभी भक्तिके पात्र हैं ; जो केवल दक्षिणाके लिये पुरोहित हैं वे भक्तिके पात्र नहीं हैं। स्वामी सब विषयोंमें स्त्रीसे श्रेष्ठ हैं, वे भक्तिके पात्र हैं। हिन्दूधर्म्म यह भी कहता है कि स्त्रीका भी स्वामीकी भक्तिका पात्र होना उचित है क्योंकि हिन्दूधर्म्म कहता है, स्त्रीको लक्ष्मीके समान जानना। किन्तु यहां हिन्दूधर्म्मकी अपेक्षा कोमत् धर्म्मकी उक्ति कुछ अधिक स्पष्ट और श्रद्धाके योग्य है। जहां स्त्री स्नेह, धर्म्म या पवित्रतामें श्रेष्ठ है वहां उसका भी स्वामीकी भक्तिका पात्र होना उचित है। गृहधर्म्ममें स्त्रियां भक्तिके पात्र हैं। जो उनके स्थानीय हैं वे भी उसी प्रकार भक्तिके पात्र हैं ; घरमें जो स्त्रियां नीचेके दरजेकी हैं वे यदि भक्तिके पात्रोंपर भक्ति न करें, यदि पिता मातापर पुत्र कन्या या सास ससुर पर बहू भक्ति न करे, यदि स्वामीपर स्त्री भक्ति न करे, यदि स्त्रीसे स्वामी घृणा करे, यदि शिक्षादातासे छात्र घृणा करे तो उस घरमें कुछ भी उन्नति नहीं है—वह घर नरकके समान है। यह बात परिश्रमसे समझानी नहीं पड़ेगी, प्रायः स्वयंसिद्ध है। इन सब भक्तिके पात्रोंपर उचित भक्ति पैदा करना अनुशीलनका एक मुख्य उद्देश्य है। हिन्दूधर्म्मका भी वही उद्देश्य है। बल्कि दूसरे धर्म्मोंकी अपेक्षा इस विषयमें हिन्दूधर्म्मकी प्रधानता है। हिन्दूधर्म्मके पृथिवी भरमें श्रेष्ठ धर्म्म होनेका यह एक प्रबल प्रमाण है।

(२) अब विचार कर देखो कि गृहस्थ परिवारका जो गठन है वही समाजका गठन है। घरके मालिककी तरह, पिता माताकी भांति राजा उस समाजका सिर है। उसके गुणसे, उसके दण्डसे, उसके पालनसे समाज रक्षित होता है। पिता जैसे सन्तानके भक्तिपात्र हैं वैसे ही राजा भी प्रजाके भक्तिपात्र हैं। प्रजाकी भक्तिसे ही राजा शक्तिमान है, नहीं तो राजाकी अपनी भुजामें कितना बल है ? राजाके बलशून्य होनेसे समाज नहीं रहता, इसलिये राजापर समाजके पिताके तुल्य समझकर भक्ति करना। लार्ड रिपनके लिये जैसा उत्साह और उत्सव देखा गया है वैसे ही तथा दूसरे अच्छे उपायोंसे राजभक्तिका अनुशीलन करना। युद्धके सम-

यमें राजाका सहाय होना। हिन्दूधर्म्ममें बार बार राजभक्तिकी प्रशंसा है। विलायती धर्म्ममें हो चाहे न हो, विलायती सामाजिक नीतिमें राजभक्तिका बड़ा ऊंचा दरजा था। वहां अब राजभक्तिका वह दरजा नहीं है। जहां है—जैसे जर्मनी या इटली, वहां राज्य उन्नतिशील है।

शिष्य। वह युरोपियन राजभक्ति मुझे बड़ी विचित्र वस्तु विदित होती है। लोगोंका रामचन्द्र या युधिष्ठिर जैसे राजा पर भक्ति करना समझ सकता हूं, अकबर या अशोकपर भक्ति करना भी एक तरहसे समझ गया हूं, किन्तु दूसरे चार्लस या पन्द्रहवें लुईके जैसे राजापर जैसी राजभक्ति होती है उससे बढ़के मनुष्यके अधःपतनका चिन्ह और क्या हो सकता है?

गुरु। जो मनुष्य राजा है उस मनुष्यपर भक्ति करना कुछ और है और राजापर भक्ति करना कुछ और। जिस देशमें एक आदमी राजा नहीं है—जो राज्य प्रजातंत्र है वहांकी बात सोचनेसे ही समझ सकोगे कि राजभक्ति किसी खास आदमीपर भक्ति करनेके माने नहीं है। अमेरिकाकी कांग्रेसका या ब्रिटिश पार्लिमेण्टका कोई खास सभ्य चाहे भक्तिपात्र न हो, किन्तु कांग्रेस और पार्लिमेण्ट भक्तिके पात्र हैं इसमें सन्देह नहीं। उसी तरह चार्लस स्टूवर्ट या लुई काले भक्तिके पात्र चाहे न हों, किन्तु उस समयके इंगलैण्ड या फ्रांसके राजा वहां वालोंके भक्तिपात्र थे।

शिष्य। तो क्या दूसरे फिलिप या औरंगजेब जैसे मनुष्योंसे विरोध करना पापमें गिना जायगा?

गुरु। कभी नहीं। राजा जबतक प्रजापालक हैं तभी तक वे राजा हैं। जब वे प्रजापीड़क हो गये तब वे राजा नहीं रहे और इसलिये भक्तिके पात्र भी नहीं रहे। ऐसे राजापर भक्ति करना तो अलग रहे, देशवासियोंको वह काम करना चाहिये जिससे राजा सुशासन करनेको बाध्य हों। क्योंकि राजाके मनमाने मार्गपर चलनेसे समाजका अमङ्गल है। किन्तु ये सब बातें भक्तितत्त्वमें नहीं आतीं। ये प्रीति तत्त्वके भीतर हैं; और एक बात कहकर राजभक्ति समाप्त करता हूं। जैसे राजा भक्तिपात्र है वैसे ही

उनके प्रतिनिधिस्वरूप राजपुरुषगण भी यथायोग्य सम्मानके पात्र हैं। किन्तु वे जबतक अपने अपने राजकाजमें नियुक्त रहते हैं और धर्मसे वह काम करते हैं तभी तक वे सम्मानके पात्र हैं। उसके बाद वे मामूली आदमी हैं।

राजपुरुषोंपर यथायोग्य भक्ति अच्छी है; किन्तु अति किसीबातमें अच्छी नहीं है क्योंकि अति अवामनुष्यका कारण है। राजा समाजके प्रतिनिधि और राजपुरुष समाजके नौकर हैं—यह बात किसीको भूलना नहीं चाहिये। हमारे देशके लोग यह बात भूल कर राजपुरुषोंकी बेहद खुशामद किया करते हैं।

(३) राजासे भी बढ़कर, जो समाजके शिक्षक हैं वे भक्तिके पात्र हैं। घराऊ गुरुकी बात घरवाली भक्तिके पात्रोंके साथ कही है, किन्तु ये गुरु केवल गृहस्थ्य गुरु ही नहीं, सामाजिक गुरु भी हैं। जो विद्या और बुद्धिसे परिश्रम सहित समाजको शिक्षा देते हैं वेही समाजके सच्चे नेता हैं, वेही यथार्थ राजा हैं। इसलिये धर्म्मवेत्ता, विज्ञानवेत्ता, नीतिवेत्ता, दार्शनिक, पुराणवेत्ता, साहित्यकार, कवि प्रभृतिके प्रति यथोचित भक्तिका अनुशीलन करना उचित है। पृथिवीपर जो कुछ उन्नति हुई है वह उन्हीं लोगोंसे हुई है। वे पृथिवीको जिस रास्तेसे चलाते हैं उसी रास्ते पृथिवी चलती है। वे राजाओंके भी गुरु हैं। राजा उनसे शिक्षा पानेपर समाज-शासनमें समर्थ होते हैं। इसी बातसे भारतीय ऋषियोंकी सृष्टि है—इसीसे व्यास, बाल्मीकि, वशिष्ठ, विश्वामित्र, मनु, याज्ञवल्क्य, कपिल गौतम—समस्त भारतवर्षके पूज्यपाद पिता स्वरूप हैं। युरोपमें भी गलीलियो, न्यूटन, कान्त, कोमृत, दान्ते, शेक्सपियर प्रभृति उसी स्थान पर हैं।

शिष्य। आपकी बातका क्या यही तात्पर्य्य समझना होगा कि जिनसे मैं जितना उपकार पाऊं उनपर उतनी ही भक्ति रखूं?

गुरु। नहीं। भक्ति कृतज्ञता नहीं है। कितनी ही बार नीचका भी कृतज्ञ होना पड़ता है। भक्ति अपनी उन्नतिके लिये है। जिसमें भक्ति नहीं है उसके चरित्रको उन्नति नहीं होती।

इन लोकशिक्षकोंके प्रति जिस भक्तिकी बात कही है उसीको उदाहरण मानकर समझो। तुम किसी लेखककी बनायी पुस्तक पढ़ते हो। अगर उस लेखक पर तुम्हारी भक्ति न हो तो उस पुस्तकसे तुम्हें कुछ लाभ नहीं होगा। उसके दिये हुए उपदेशोंका कुछ भी असर तुम्हारे चरित्र पर नहीं पड़ेगा। उनका मतलब तुम नहीं निकाल सकोगे। ग्रंथकारके साथ सहृदयता न होनेसे उसकी बातका तात्पर्य्य समझमें नहीं आता। इसलिये जगत्के शिक्षकों पर भक्ति न रहनेसे शिक्षा नहीं होती। वह शिक्षा ही सब उन्नतिकी जड़ है; इसलिये भक्तिके बिना उन्नति भी नहीं होती। उनपर समुचित भक्तिका अनुशीलन परम धर्म्म है।

शिष्य। यह धर्म तो आपके प्रशंसित हिन्दूधर्म्ममें नहीं है?

गुरु। यह बड़ी मुर्खताकी बात है। परन्तु हिन्दूधर्म्म इस बातको जितना अधिक सिखाता है उतना और कोई धर्म्म नहीं सिखाता। हिन्दूधर्म्ममें ब्राह्मण सबसे पूज्य हैं। उनको सब वर्णोंमें श्रेष्ठ और नीचसे लेकर ऊंच तक सबके विशेष भक्तिपात्र होनेका यही कारण है कि ब्राह्मण ही भारतवर्षमें सामाजिक शिक्षक थे। वे धर्म्मवेत्ता थे वेही दार्शनिक थे, वेही साहित्यप्रणेता थे, वेही कवि थे, इसीसे हिन्दूधर्म्मके अनन्त ज्ञानी उपदेशकोंने उन लोगोंको असीम भक्तिका पात्र बताया है। समाजके ब्राह्मणों पर इतनी भक्ति करनेसे ही भारतवर्ष थोड़े समयमें इतना उन्नत हुआ था। समाज शिक्षादाताओंके पूर्ण रूपसे वशीभूत था। इसीसे सहजमें उन्नत हुआ था।

शिष्य। आजकल तो लोग यही कहते हैं कि पाखण्डी ब्राह्मणोंने अपनी जीविकाका गुप्त बन्दोबस्त करनेके लिये यह दुर्जय ब्राह्मणभक्ति भारतवर्षमें चलायी है।

गुरु। यह बात तो वानरी बुद्धिकी है। देखो, विधि व्यवस्था सब ब्राह्मणोंके हाथमें ही थी। अपने हाथमें वह शक्ति रहने पर भी उन्होंने अपनी जीविकाका क्या बन्दोबस्त किया है? वे राज्यके अधिकारी नहीं होंगे, वाणिज्यके अधिकारी नहीं होंगे, खेतीके भी अधिकारी नहीं होंगे। वे एकके सिवा और किसी उप

जीविकाके अधिकारी नहीं है। जो जीविका ब्राह्मणोंने चुनकर अपने लिये रखी, वह क्या है? जिससे बढ़कर दुःखकी कोई और जीविका नहीं है, जिससे बढ़कर और किसीमें दरिद्रताका लक्षण नहीं है वही—भिक्षा उनकी जीविका है। ऐसी निःस्वार्थ उन्नतचित्त मनुष्य श्रेणी भूमण्डलमें और कहीं नहीं जन्मी है। उन्होंने बहादुरी या पुण्य लूटनेके लिये भिक्षा-वृत्तिको चुनकर अपनी जीविकाका अवलम्ब नहीं बनाया। वे समझ गये थे कि धन दौलतमें मन लगानेसे ज्ञानोपार्ज्जनमें विघ्न पड़ता है, समाजको शिक्षा देनेमें विघ्न पड़ता है। एक मन, एक ध्यान होकर लोगोंको शिक्षा देनेके लिये ही वे सर्वत्यागी हुए थे। यथार्थ निष्काम धर्म्म जिनकी नस नसमें समा गया है वेही परहित-व्रतका सङ्कल्प करके इस प्रकार सर्वत्यागी हो सकते हैं। उन्होंने अपने ऊपर लोगोंकी अचला भक्ति करनेकी जो आज्ञा दी थी वह भी स्वार्थके लिये नहीं। उन्होंने समझा था कि समाज-शिक्षकों पर भक्ति हुए बिना उन्नति नहीं हो सकती, इसीसे ब्राह्मण-भक्तिका प्रचार किया था। यह सब करके उन्होंने जो समाज और जो सभ्यता बनायी थी वह आज भी जगत्में अतुलनीय है, युरोप आज भी उसे आदर्श स्वरूप ग्रहण कर सकता है। युरोपमें आज दिन भी युद्ध सामाजिक आवश्यकतामें शामिल है। केवल ब्राह्मण ही इस भयङ्कर दुःखको—सब दुःखोंसे बढ़कर दुःखको—सब सामाजिक उत्पातोंसे बढ़कर उत्पातोंको—समाजसे उठा देनेको समर्थ हुए थे। समाज ब्राह्मण-नीति अवलम्बन करे तो फिर युद्धकी दरकार नहीं रहती। ब्राह्मणोंकी कीर्त्ति अक्षय है। पृथिवी पर जितनी जातियां जन्मी हैं उनमेंसे कोई प्राचीन भारतके ब्राह्मणोंके समान प्रतिभाशाली, क्षमताशाली, ज्ञानी और धार्म्मिक नहीं है। प्राचीन एथेंस या रोम, मध्यकालकी इटली, नवीन जर्मनी या इङ्गलेण्डके निवासी—कोई वैसे प्रतिभाशाली या क्षमताशाली नहीं थे; रोमके धर्म्मयाजक, बौद्ध भिक्षु या और किसी सम्प्रदायके आदमी वैसे ज्ञानी या धार्म्मिक नहीं थे।

प्रिय। अच्छा, यह जाने दीजिये। अब तो देखता हूं कि

ब्राह्मण रसोई भी बनाते हैं, पानीपांड़े भी बनते हैं, रोटी भी बेचते हैं और कालीजीके सामने खड़े होकर कसाईका रोजगार भी करते हैं ।* उनपर भी भक्ति करनी होगी ?

गुरु । कभी नहीं । जिस गुणके लिये भक्ति करूंगा वह गुण जिसमें नहीं है उसपर हम क्यों भक्ति करेंगे ? उसपर भक्ति अधर्म्म है । इतना ही न समझना भारतवर्षकी अवनतिका एक कारण है । जिस गुणसे ब्राह्मण भक्तिके पात्र थे वह गुण जब नहीं रहा तब फिर ब्राह्मण पर क्यों भक्ति करने लगे ? फिर क्यों ब्राह्मणके वशीभूत रहें ? इसीसे कुशिक्षा होने लगी, हम कुपथमें जाने लगे । अब लौटना होगा ।

शिष्य । अर्थात् अब ब्राह्मण पर भक्ति नहीं करनी होगी ।

गुरु । ठीक यही मतलब नहीं है । जिन ब्राह्मणोंमें गुण है अर्थात् जो धार्म्मिक, विद्वान, निष्काम और लोकशिक्षक हैं उनपर भक्ति करेंगे ; जो ऐसे नहीं हैं उनपर भक्ति नहीं करेंगे । उनके बदले जो शूद्र ब्राह्मणके गुणोंसे युक्त हैं अर्थात् जो धार्म्मिक, विद्वान, निष्काम और लोकशिक्षक हैं उनपर भी भक्ति करेंगे ।

शिष्य । आपकी ऐसी हिन्दुयानीको कोई हिन्दू पसन्द नहीं करेगा ।

गुरु । न करे, किन्तु यही धर्म्मका असली अर्थ है । महाभारतके वनपर्वमें मार्कण्डेयसमस्या पर्वाध्यायके २१५वें अध्यायमें यह ऋषि वाक्य है ;—"पातित्यजनक, कुक्रियासक्त, दाम्भिक ब्राह्मण प्राज्ञ होने पर भी शूद्र सदृश होता है और जो शूद्र सत्य, दम और धर्म्ममें सदा अनुरक्त है उसको मैं ब्राह्मण समझता हूं । क्योंकि व्यवहारसे ही ब्राह्मण होता है ।" फिर वनपर्वमें अजगर पर्वाध्यायके १७० वें अध्यायमें राजर्षि नहुष कहते हैं, "वेदमूलक सत्य, दान, क्षमा, आनृशंस्य, अहिंसा और करुणा शूद्रमें भी दिखाई देती है । जब शूद्रमें भी सत्यादि ब्राह्मणधर्म्म देखा गया तब शूद्र भी ब्राह्मण हो सकता है ।" इसके उत्तरमें युधिष्ठिर कहते हैं—

* बङ्गालके ब्राह्मण कालीजीके सामने बकरेको बलि कराते हैं ।

"अनेक शूद्रोंमें ब्राह्मण-लक्षण और अनेक द्विजातियोंमें भी शूद्रके लक्षण देखे जाते हैं। इसलिये शूद्र-वंशका होनेसे ही शूद्र होता है और ब्राह्मण-वंशका होनेसे ही ब्राह्मण होता है, यह बात नहीं है। किन्तु जिन मनुष्योंमें वैदिक व्यवहार दिखाई देता है वेही ब्राह्मण हैं और जिनमें नहीं दिखाई देता वेही शूद्र हैं।" ऐसी बातें और भी बहुत स्थानोंमें हैं। फिर वृद्ध गौतमसंहिताके २१वें अध्यायमें है ;—

क्षान्तं दान्तं जितक्रोधं जितात्मानं जितेन्द्रियम् ।
तमेव ब्राह्मणं मन्ये शेषाः शूद्रा इति स्मृताः ॥
अग्निहोत्रव्रतपरान् स्वाध्यायनिरतान् शुचीन् ।
उपवासरतान् दान्तां स्तान् देवा ब्राह्मणान् विदुः ॥
न जातिः पूज्यते राजन् गुणाः कल्याणकारकाः ।
चण्डालमपि वृत्तस्थं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥

क्षमवान, दमशील, जितक्रोध और जितात्मा जितेन्द्रियको ही ब्राह्मण कहना होगा ; और सब शूद्र हैं। जो अग्निहोत्रव्रतपरायण, स्वाध्यायनिरत, शुचि, उपवासरत और दान्त हैं देवता लोग उन्हींको ब्राह्मण समझते हैं। हे राजन्। जाति पूज्य नहीं है, गुण ही कल्याणकारक है। चाण्डाल भी वृत्तस्थ हो तो देवता उसको ब्राह्मण समझते हैं।

शिष्य। खैर। अब समझता हूं कि मनुष्योंमें तीन श्रेणियोंके लोगों पर भक्ति करनेका अनुशीलन करना चाहिये, (१) घरके गुरु (२) राजा और (३) समाजशिक्षक। और कोई ?

गुरु। (४) जो आदमी धार्म्मिक या ज्ञानी है वह तीन श्रेणि-योंमें न आने पर भी भक्तिका पात्र है, धार्म्मिक नीच जातिका होने पर भी भक्तिका पात्र है।

(५) और कुछ लोग हैं जो केवल अवस्था विशेषके भक्तिके पात्र हैं या अवस्थाविशेषमें भक्तिके पात्र हैं। इस भक्तिको आज्ञाकारिता या सम्मान भी कह सकते हैं। जो कोई काम करनेके लिये दूसरे आदमीकी आज्ञाकारिता स्वीकार करता है वह दूसरा आदमी उसका भक्तिपात्र न हो सके तो सम्मानपात्र अवश्य हो।

अङ्गरेजीमें इसका बहुत अच्छा नाम Subordination है। इस नामसे पहले Official subordination याद पड़ता है। इस देशमें उस वस्तुका अभाव नहीं है, किन्तु जो है वह बहुत अच्छी नहीं है। भक्ति नहीं है; भय है। भक्ति मनुष्यकी श्रेष्ठ वृत्ति है और भय निकृष्ट वृत्तियोंमें है। भक्तिशून्य भयके समान मानसिक अवनतिका बड़ा कारण बहुत थोड़ा ही है। बड़े अफसरकी आज्ञा पालन करो, उनको इज्जत करो, हो सके तो भक्ति करो, किन्तु कभी अकारण भय मत करो। किन्तु Official subordination के सिवा और एक जातीय आज्ञाकारिता दरकार है। वह हमारे देशके लिये बड़ी ही नाजुक है। अधिकांश धर्म्मकर्म्म समाजके मङ्गलके लिये हैं। अक्सर दस आदमियोंको मिलकर वे सब काम करने पड़ते हैं; वे एक आदमोसे नहीं होते। जो दस आदमियोंके मेलसे होता है उसमें एकता चाहिये। एकताके लिये यही दरकार है कि एक आदमी नेता होगा और सबको उसकी और पर्यायक्रमसे दूसरोंकी आज्ञाके अनुसार कार्य्य करना होगा। यहां भी Subordination (सबार्डिनेशन) दरकार है। इसलिये यह एक बड़ा भारी धर्म्म है। दुर्भाग्यवश हमारे समाजमें यह सामग्री नहीं है। जो काम दस आदमियोंके मेलसे करना है उसमें सभी लोग अपनी अपनी प्रधानता चाहते हैं, कोई किसीकी आज्ञा नहीं मानता। इससे सब कुछ व्यर्थ होता है। अक्सर ऐसा होता है कि निकृष्ट आदमी नेता और श्रेष्ठ आदमी अधीन होता है। वहां श्रेष्ठ आदमोका कर्त्तव्य है कि वह निकृष्टको श्रेष्ठ समझकर उसकी आज्ञा पर चले, नहीं तो काम नहीं चलेगा। किन्तु हमारे देशके आदमी किसी तरह यह बात नहीं मानते। इसीसे हमारे समाजकी उन्नति इतनी कम है।

(६) और यह बात भी भक्तितत्त्वके अन्तर्गत है कि जिसकी जिस विषयमें निपुणता है सम्मान उस विषयमें उसका करना होगा। उमरमें बड़ेका भी केवल वयोज्येष्ठ होनेके लिये सम्मान करना।

(७) समाज पर भक्ति करना। यह स्मरण रखना कि मनुष्यमें जितने गुण हैं वे सब समाजमें हैं। समाज हमारा शिक्षादाता,

दण्डप्रणेता, भरणपोषणकारी और रक्षाकर्त्ता है। समाज ही राजा है, समाज ही शिक्षक है। भक्तिभावसे समाजके उपकारके लिये प्रयत्न करना। इसी तत्त्वको फैलाकर अगस्त कोम्‌तने "मानवदेवी" पूजाका विधान किया है। सुतरां इस विषयमें और कुछ कहनेकी दरकार नहीं है।

अब यह देखो कि भक्तिके अभावसे हमारे देशमें क्या अमङ्गल और गड़बड़ हो रही है। हिन्दुओंमें भक्तिका कुछ भी अभाव नहीं था। भक्ति हिन्दूधर्म्मकी और हिन्दूशास्त्रकी एक पुरानी सामग्री है। किन्तु अब शिक्षित और अर्द्धशिक्षित आदमियोंमें भक्ति एकबार ही निकल गयी है। पश्चिमी साम्यवादका असली मतलब न समझकर इन्होंने यही उलटा अर्थ समझ लिया है कि आदमी आदमीके सर्वत्र सब तरहसे समान है, किसीको किसी पर भक्ति करनेकी दरकार नहीं है। जो भक्ति मनुष्यकी सर्वोत्तम वृत्ति है वह उन्हें हीनताका चिन्ह जान पड़ी है। पिता अब My dear father अर्थात् बूढ़ा...... है। माता बापकी बीबी है। बड़ा भाई ज्ञातिमात्र है। शिक्षक मास्टरवा है। पुरोहित दक्षिणाका लालची पाखण्डी है। जो स्वामी देवता थे वह अब केवल प्यारा मित्र है, कोई कोई उसे दास भी समझती हैं। स्त्रीको अब हम लक्ष्मी स्वरूप नहीं समझ सकते। क्योंकि अब लक्ष्मीको ही नहीं मानते। यह तो हुई, घरके भीतरकी बात। घरके बाहर कितने ही राजाको शत्रु समझते हैं। उनकी समझमें राजपुरुष अत्याचारी राक्षस हैं। समाज-शिक्षक केवल हमारी समालोचना-शक्तिके परिचय-स्थल हैं। धार्म्मिक या ज्ञानी किसीको नहीं मानते। यदि मानते हैं तो धार्म्मिकको बेचारा गौसी समझकर उस पर दया करते हैं, ज्ञानीको शिक्षा देनेके लिये तय्यार रहते हैं। किसीको किसीसे निकृष्ट नहीं मानेंगे, इससे कोई किसीके आज्ञाधीन होकर नहीं चलेगा; सुतरां एकतापूर्वक कोई सामाजिक मङ्गल नहीं कर सकते। निपुणताका आदर नहीं करेंगे; वृद्धकी बहुदर्शिता पर व्यङ्ग करते हैं। समाजसे डरकर ठिठके रहते हैं। किन्तु समाज पर भक्ति नहीं करते। इसीसे घर नरक बन रहा है, राजनीतिक भेद पड़ रहा है, शिक्षा अनिष्टकारी होती है, समाज

अनुन्नत और तखड़पखड़मय है। अपना चित्त अपरिशुद्ध और घमण्डसे परिपूर्ण है।

शिष्य। उन्नतिके लिये भक्तिकी इतनी आवश्यकता मैंने कभी नहीं समझी थी।

गुरु। इसीसे भक्तिको सर्वोत्तम वृत्ति कहता था। अभी केवल मनुष्य-भक्तिकी बात कही है। अगले दिन ईश्वरभक्तिकी बात सुनना। भक्तिकी श्रेष्ठता और भी अच्छी तरह समझ सकोगे।

ग्यारहवां अध्याय—ईश्वरपर भक्ति।

-:०·

शिष्य। आज ईश्वरभक्तिके विषयमें कुछ उपदेश देनेकी प्रार्थना करता हूं।

गुरु। तुमने जो कुछ मुझसे सुना है और जो कुछ सुनोगे, वह सभी ईश्वरभक्ति सम्बन्धी उपदेश हैं। केवल कहने और समझनेमें भेद है। भक्ति शब्द हिन्दूधर्म्ममें बड़ा भारी अर्थवाचक है और हिन्दूधर्म्ममें यह बात बहुत प्रसिद्ध है। भिन्न भिन्न धर्म्मवेत्ताओंने इसको अनेक प्रकारसे समझाया है और ईसा आदि आर्य्येतर धर्म्म-वेत्ता भी भक्ति-वादी हैं। सबकी उक्तियोंको मिलाकर और पहुंचे हुए भक्तोंके चरित्रोंको विलगाकर मैंने भक्तिका जो स्वरूप स्थिर किया है वह एक बातमें कहता हूं, ध्यान देकर सुनो और अच्छी तरह याद रखना। नहीं तो सब परिश्रम व्यर्थ जायगा।

शिष्य। आज्ञा कीजिये।

गुरु। **जिस अवस्थामें मनुष्यकी सब वृत्तियां ईश्वरकी ओर झुकती हैं या ईश्वरानुवर्त्तिनी होती हैं वही अवस्था भक्ति है।**

शिष्य। समझा नहीं।

गुरु। अर्थात् जिस अवस्थामें ज्ञानार्ज्जनी वृत्तियां ईश्वरको ढूंढ़ती हैं, कार्य्यकारिणी वृत्तियां ईश्वरमें अर्पित होती हैं, चित्तरञ्जिनी वृत्तियां ईश्वरका सौन्दर्य्य उपभोग करती हैं और शारीरिकी वृत्तियां ईश्वरका काम करने या ईश्वरकी आज्ञा पालनेमें नियुक्त होती हैं उसी अवस्थाको भक्ति कहता हूं। जिसका ज्ञान ईश्वरमें है, कर्म्म ईश्वरमें है, आनन्द ईश्वरमें है और शरीरार्पण ईश्वरमें है उसीकी ईश्वरपर भक्ति हुई है। अथवा उसीकी ईश्वर सम्बन्धी भक्तिकी उचित स्फूर्त्ति और पूर्णता हुई है।

शिष्य। इस बात पर मेरा पहला उज्र यह है कि आपने अब तक समझाया है कि भक्ति सब वृत्तियोंमेंसे एक है। किन्तु अब आप सब वृत्तियोंके समूहको भक्ति कहते हैं।

गुरु। नहीं। भक्ति एक ही वृत्ति है। मेरे कहनेका तात्पर्य्य यह है कि जब सब वृत्तियां इस एक वृत्तिकी अनुगामिनी होंगी तभी भक्तिकी उचित स्फूर्त्ति होगी। इस बातसे वृत्तियोंमें भक्तिकी श्रेष्ठताका समर्थन हुआ। भक्ति ईश्वरमें अर्पित होने पर और सब वृत्तियां उसके अधीन होंगी, उसके दिखाये मार्गपर चलेंगी। यही मेरे कहनेका खुलासा अर्थ है। यह मतलब नहीं कि सब वृत्तियोंका समूह भक्ति है।

शिष्य। किन्तु तब सामञ्जस्य कहां रहा? आपने कहा है कि सब वृत्तियोंकी समुचित स्फूर्त्ति ही मनुष्यत्व है। उस समुचित स्फूर्त्तिका यह अर्थ बताया है कि किसी वृत्तिकी अधिक स्फूर्त्तिसे दूसरी वृत्तियोंकी उचित स्फूर्त्तिमें बाधा नहीं पड़ती। किन्तु जब सब वृत्तियां ही इस एक भक्ति वृत्तिके अधीन हुईं, जब भक्तिही दूसरी वृत्तियोंका शासन करने लगी तब परस्परका सामञ्जस्य कहां रहा?

गुरु। भक्तिका अनुगमन करनेवाली किसी वृत्तिकी चरम स्फूर्त्तिमें विघ्न नहीं पड़ता। मनुष्यकी वृत्तिमात्रके जो कुछ उद्देश्य हो सकते हैं उनमें सबसे ईश्वर ही बड़ा है। जिस वृत्तिका चाहे जितना फैलाव हो ईश्वरमें लगनेसे वह फैलाव बढ़नेके सिवा घटेगा नहीं। ईश्वर जिस वृत्तिका उद्देश्य है—अनन्त मङ्गल, अनन्त

ज्ञान, अनन्त धर्म्म, अनन्त सौन्दर्य्य, अनन्त शक्ति, अनन्त ही जिस वृत्तिका उद्देश्य है उसमें रुकावट कहां? भक्तिके अधीन रहनेकी अवस्थामें ही सब वृत्तियोंका यथार्थ सामञ्जस्य है।

शिष्य। तो आप जो मनुष्यत्व-तत्व और अनुशीलन धर्म्म मुझे सिखाते हैं क्या उसका स्थूल तात्पर्य्य यही है कि ईश्वर-भक्ति ही पूर्ण मनुष्यत्व है और अनुशीलनका एकमात्र उद्देश्य ईश्वर-भक्ति ही है।

गुरु। अनुशीलन धर्म्मके मर्म्म में यही बात है कि सब वृत्तियोंको ईश्वरमें समर्पण किये बिना मनुष्यत्व नहीं मिलता। यही असली कृष्णार्पण है, यही सच्चा निष्काम धर्म्म है, यही स्थायी सुख है। इसीका दूसरा नाम चित्तशुद्धि है। इसीका लक्षण "भक्ति, प्रीति, शान्ति" है। यही धर्म्म है, इसके सिवा और कोई धर्म्म नहीं है। मैं यही बताता हूं। किन्तु तुम यह न समझ लेना कि यह बात समझनेसे ही तुम अनुशीलन धर्म्म समझ गये।

शिष्य। मैं स्वयं स्वीकार करता हूं कि अभीतक मैंने कुछ नहीं समझा। अनुशीलन धर्म्ममें इस तत्वका असली स्थान क्या है, यह अभीतक नहीं समझ सका। आपने वृत्तियोंको जिस भावसे समझाया है उसमें शारीरिक बल अर्थात् पुट्ठेका बल एक Faculty चाहे न हो, एक वृत्ति है। अनुशीलन धर्म्मके विधानसे इसका उचित अनुशीलन चाहिये। मान लीजिये कि रोग, दरिद्रता, आलस्य या ऐसे ही और किसी कारणसे किसी आदमीकी इस वृत्तिकी उचित स्फूर्त्ति नहीं हुई। क्या उसमें ईश्वर-भक्ति नहीं हो सकती?

गुरु। मैंने कहा है कि जिस अवस्थामें मनुष्यकी सब वृत्तियां ईश्वरकी ओर झुकती हैं वही भक्ति है। उस आदमीमें शारीरिक बल अधिक है या कम, जितना है, वह अगर ईश्वरमें लगे अर्थात् ईश्वरके बताये हुए काममें लगे और दूसरी वृत्तियां भी वैसी हों तब समझना कि उसमें ईश्वरभक्ति हुई है। अलबत्ते अनुशीलनके अभावसे, उस भक्तिकी कार्य्यकारितामें उसी अन्दाजसे त्रुटि होगी।

एक डाकू एक भलेमानसको सता रहा है। मान लो कि दो आदमियोंने यह देख लिया। मान लो कि दोनों ही ईश्वरभक्त हैं; किन्तु एक बलवान है और दूसरा दुर्बल। जो बलवान है उसने भले आदमीको डाकूके हाथसे छुड़ा लिया; किन्तु जो दुर्बल है वह कोशिश करके भी न छुड़ा सका। इसी हिसाबसे अनुशीलनके अभावसे दुर्बल आदमीके मनुष्यत्वकी अपूर्णता कह सकते हैं, किन्तु भक्तिमें त्रुटि नहीं कह सकते। वृत्तियोंकी उचित स्फूर्त्तिके बिना मनुष्यत्व नहीं है; और उन वृत्तियोंके भक्तिके अनुगामी न होनेमें भी मनुष्यत्व नहीं है। दोनोंके समावेशमें ही सम्पूर्ण मनुष्यत्व है। इसमें वृत्तियोंकी स्वतन्त्रताकी रक्षा होती है और भक्तिकी प्रधानता भी बनी रहती है। इसीसे कहता था कि वृत्तियोंका ईश्वरार्पण समझनेसे ही मनुष्यत्व नहीं समझ आओगे। उसके साथ यह भी समझना चाहिये।

शिष्य। अब और भी उज्र है। जिस उपदेशके अनुसार काम नहीं हो सकता, वह उपदेश ही नहीं है। क्या सब वृत्तियां ईश्वरमें लगायी जा सकती हैं? क्रोध एक वृत्ति है, क्या क्रोधको ईश्वरमें लगा सकते हैं?

गुरु। जगत्में अतुलनीय उस महाक्रोधका श्लोक तुम्हें याद है?

क्रोधं प्रभो संहर संहरेति,
यावद् गिरः खे मरुतां चरन्ति।
तावत् स वह्निर्भवनेत्रजन्मा,
भस्मावशेषं मदनञ्चकार॥

यह क्रोध महापवित्र क्रोध है; क्योंकि योगभङ्ग करनेवाली कुप्रवृत्ति इससे नष्ट हुई। यह स्वयं ईश्वरका क्रोध है। और जो एक नीच वृत्ति भारतवर्षमें ईश्वरानुवर्त्ती हुई थी उसका एक अद्भुत उदाहरण महाभारतमें है, मगर तुम उन्नीसवीं सदीके आदमी हो। वह मैं तुम्हें नहीं समझा सकूंगा।

शिष्य। और भी उज्र है—

गुरु। होना ही सम्भव है। जब मनुष्यकी सब वृत्तियां ईश्व-

रकी ओर झुकती हैं या ईश्वरानुवर्त्तिनी होती हैं वही अवस्था भक्ति है। यह बात इतनी बड़ी है और इसके भीतर ऐसे बड़े बड़े तत्व हैं कि तुम एकबारके सुननेसे ही समझने लगोगे, यह सम्भव नहीं है। बहुत सन्देह होगा, बहुत घिचपिचाहट होगी, बहुत दुःख देखोगे और शायद अन्तमें यह बात अर्थहीन प्रलाप जान पड़ेगी। किन्तु तो भी निराश मत होना। दिन दिन, महीने महीने, साल साल इस तत्वकी चिन्ता करना। इसको काममें लानेकी चेष्टा करना। इन्धनसे पुष्ट अग्निकी भांति यह क्रमशः तुम्हारे सामने चमकती जायगी। यदि ऐसा हो तब समझना कि तुम्हारा जीवन सार्थक हुआ। मनुष्यके सीखने योग्य इसके समान बड़ा तत्व दूसरा नहीं है। अगर एक आदमी अपना सारा जीवन सत्‌शिक्षामें लगा कर अन्तमें इस तत्व तक पहुंच जाय तभी उसका जीवन सार्थक समझना।

शिष्य। जो ऐसा दुर्लभ है उसे आपने ही कहांसे पाया?

गुरु। शुरू जवानीसे मेरे मनमें यह प्रश्न उठता था,—"इस जीवनको लेकर क्या करूंगा? लेकर क्या किया जाता है? तमाम जिन्दगी इसीका उत्तर ढूंढ़ा है। उत्तर ढूंढ़ते ढूंढ़ते जिन्दगी प्रायः पूरी हो गयी है। अनेक प्रकारके लोक-प्रचलित उत्तर पाये हैं। उनका सत्यासत्य निश्चय करनेके लिये अनेक भोग भोगने हैं, अनेक कष्ट पाया है। यथासाध्य पढ़ा है, अनेक लिखा है, अनेक लोगोंसे बातचीत की है और कामोंमें शामिल हुआ हूं। साहित्य, विज्ञान, इतिहास, दर्शन, देशी विदेशी शास्त्र यथासाध्य अध्ययन किये हैं। जीवनकी सार्थकताके लिये प्राणका मोह छोड़कर परिश्रम किया है। इस परिश्रम, इस कष्ट भोगके फलसे इतना ही सीखा है कि सब वृत्तियोंको ईश्वरमें लगाना ही भक्ति है और उस भक्तिके बिना मनुष्यत्व नहीं है। "जीवन लेकर क्या करूंगा?" इस प्रश्नका उत्तर पाया है। यही असली उत्तर है और सब उत्तर नकली हैं। आदमीके सारे जीवनके परिश्रमका यही अन्तिम फल है; यही एक मात्र सुफल है। तुम पूछते हो, मैंने यह तत्व कहां पाया। जीवन भर ढूंढ़ते ढूंढ़ते अब अपने प्रश्नका उत्तर पाया है।

तुम एक दिनमें क्या समझोगे ?

शिष्य । आपकी बातसे मैंने यही समझा कि भक्तिके लक्षणके विषयमें आपने मुझे जो उपदेश दिया वह आपका अपना मत है ।

गुरु । मूर्ख ! मेरे ऐसे क्षुद्र व्यक्तिमें क्या ऐसी शक्ति हो सकती है कि जिसे आर्य्य ऋषि नहीं जानते थे उसका पता मैं लगा सकूं । मैं जो कहता था उसका तात्पर्य्य यह है कि जीवन भर चेष्टा करने पर उनकी शिक्षाका मर्म समझा है । असलमें मैंने जिस भाषामें तुमको भक्ति समझायी है उस भाषामें, उन बातोंमें उन्होंने भक्ति-तत्त्व नहीं समझाया है । तुम लोग उन्नीसवीं सदीके आदमी हो—उन्नीसवीं सदीकी भाषामें ही तुमको समझाना पड़ता है । भाषाका भेद है, किन्तु सत्य नित्य है । भक्ति शाण्डिल्यके समय जैसी थी अब भी वैसी ही है । भक्ति आर्य्यऋषियोंके उपदेशोंमें मिलती है । परन्तु जैसे समुद्रमें पड़े हुए रत्नोंका यथार्थ स्वरूप गोता लगा कर देखे विना नहीं दिखाई देता वैसे ही अगाध समुद्ररूपी हिन्दूशास्त्रोंके भीतर गोता न लगानेसे उसमें पड़े हुए रत्न पहचाने नहीं जा सकते ।

शिष्य । मेरी इच्छा है कि आपसे उनकी की हुई भक्तिकी व्याख्या सुनूं ।

गुरु । सुनना बहुत जरूरी है, क्योंकि भक्ति ही हिन्दुओंकी वस्तु है । ईसाई धर्म्ममें भक्तिवाद है, मगर हिन्दुओंके पास तो भक्तिका यथार्थ फल है । किन्तु उनकी की हुई भक्तिकी व्याख्या विस्तार सहित कहने या सुननेका मुझे या तुम्हें अवकाश नहीं होगा और हमारा मुख्य उद्देश्य अनुशीलन धर्म्म समझना है । उसके लिये वैसी सविस्तार व्याख्याकी दरकार नहीं है ; मोटी मोटी बातें तुमसे कहूंगा ।

शिष्य । पहले बताइये कि भक्तिवाद क्या चिरकालसे हिन्दूधर्म्मका अंश है ?

गुरु । नहीं । वैदिक धर्म्ममें भक्ति नहीं है । वेदके धर्म्मका परिचय शायद तुम्हें कुछ है । साधारण उपासकके साथ

आम तौरपर उपास्य देवका जो सम्बन्ध देखा जाता है, वैदिकधर्म्ममें उपास्य और उपासकका वही सम्बन्ध था। 'हे देव! मेरा दिया हुआ यह सोमरस पान करो! हविर्भोजन करो और मुझे धन दो, सम्पद दो, पुत्र दो गौ दो, अन्न दो और मेरे शत्रुको पछाड़ो।' बहुत हुआ तो कहा—'मेरा पाप नाश करो।' देवताओंको इस मतलबसे प्रसन्न करनेके लिये वैदिक लोग यज्ञादि करते थे। यों बाह्य वस्तुके उद्देश्यसे यज्ञादि करनेको काम्य कर्म्म कहते हैं। काम्यादि कर्म्मात्मक जो उपासना है उसका साधारण नाम कर्म्म है। यह काम करनेसे उसका यह फल है, इसलिये यह काम करना होगा—यों धर्म्म प्राप्त करनेकी जो पद्धति है उसका नाम कर्म्म है। वैदिक कालके अन्तिम भागमें ऐसे हुए कर्म्मात्मक धर्म्मका बड़ा जोर हुआ था। याग यज्ञके ऊहापोहसे धर्म्मका असली मर्म्म लुप्त हो गया था। ऐसी दशामें उच्च श्रेणीके प्रतिभाशाली पुरुषोंने देखा कि यह कर्म्मात्मक धर्म्म वृथा धर्म्म है। उनमेंसे बहुतोंने समझा था कि वैदिक देव देवियोंकी कल्पनासे इस जगत्‌का अस्तित्व नहीं समझमें आ सकता; भीतर इसका एक अनन्त अज्ञेय कारण है। वे लोग उसी कारणकी खोजमें लगे।

इन्हीं कारणोंसे कितने ही आदमियोंकी श्रद्धा कर्म्मके ऊपरसे उठ गयी। उन्होंने तीन प्रकारका विप्लव खड़ा किया—उसी विप्लवके फलसे एशिया महादेश अबतक शासित होता है। एक दल चार्वाकोंका था; उसने कहा कि सब कर्म्मकाण्ड मिथ्या है—खाओ, पियो, मौज उड़ाओ। दूसरी सम्प्रदायके सृष्टिकर्त्ता और नेता शाक्य सिंह थे; उन्होंने कहा कि कर्म्मफल मानता हूं किन्तु कर्म्मसे ही दुःख है। कर्म्मसे पुनर्जन्म है, इसलिये कर्म्मको नष्ट करो, तृष्णा त्यागकर चित्तसंयम करते हुए अष्टांग धर्म्म पथमें जाकर निर्वाण लाभ करो। तीसरा विप्लव दार्शनिकों द्वारा हुआ था। वे प्रायः ब्रह्मवादी थे। उन्होंने देखा कि जगत्‌के जिस अनन्त कारण-भूत चैतन्यकी खोजमें हम लगे हुए हैं वह बड़ा ही दुर्ज्ञेय है। वह ब्रह्मको जान लेनेसे—उस जगत्‌के अन्तरात्मा या परमात्माके साथ हमारा क्या सम्बन्ध है और जगत्‌के साथ उनका

या हमारा क्या सम्बन्ध है यह जान लेनेसे समझा जा सकता है कि यह जीवन लेकर क्या करना होगा । 'यह जानना कठिन है—यह जानना ही धर्म्म है । इसलिये ज्ञान ही धर्म्म है, ज्ञान ही निःश्रेयस है । वेदके जिस अंशको उपनिषद कहते हैं वह इन्हीं प्रथम ज्ञानवादियोंकी कीर्त्ति है । ब्रह्मनिरूपण और आत्मज्ञान ही उपनिषदोंका उद्देश्य है । उसके बाद छः दर्शनोंमें यह ज्ञानवाद और भी बढ़ाया चढ़ाया गया है । कपिलके सांख्यमें ब्रह्मको त्याग दिये जानेपर भी वह दर्शन शास्त्र ज्ञानवादात्मक है, दर्शनोंमें केवल पूर्व मीमांसा कर्म्मवादी है और सभी ज्ञानवादी हैं ।

शिष्य । मुझे ज्ञानवाद बहुत अधूरा जान पड़ता है । ज्ञानसे ईश्वरको जान ले सकते हैं, किन्तु ज्ञानसे क्या ईश्वरको पा सकते हैं? क्या जाननेसे वह पाया जा सकता है? मान लो जाये, मैं समझ गया कि ईश्वरके साथ आत्माकी एकता है । तो क्या यह जाननेसे ही ईश्वर मिल गया? दोको एक करके मिलावेगा कौन?

गुरु । जिसको उस रीतिपर नहीं मिल सकता उसके लिये भक्ति-मार्ग है । भक्तिवादी कहते हैं कि ज्ञानसे ईश्वरको जान तो सकते हैं किन्तु क्या जाननेसे ही उनको पा गये? बहुत चीजें हम जानते हैं किन्तु क्या जाननेसे ही उसे पा गये? हम जिसका द्वेष करते हैं उसे भी तो जानते हैं किन्तु क्या उससे हम मिले हुए हैं? हम अगर ईश्वरका द्वेष करें तो क्या उनको पावेंगे? बल्कि जिनपर हमारा अनुराग है उनको पानेकी सम्भावना है । जो शरीरी हैं उनको अनुराग बिना नहीं पा सकते, किन्तु जो अशरीरी हैं वे केवल अन्तः-करणसे ही पाये जा सकते हैं । अतएव उनपर गहरा अनुराग होनेसे ही हम उनको पावेंगे । इसी प्रकारके अनुरागका नाम भक्ति है शाण्डिल्यसूत्रका दूसरा सूत्र यही है—"सा (भक्तिः) परानुरक्ति-रीश्वरे ।"

शिष्य । भक्तिवादकी उत्पत्तिका यह इतिहास सुनकर मैं बहुत ही कृतार्थ हुआ । इसे सुने बिना भक्तिवादको मैं अच्छी तरह न समझ सकता । सुनकर मनमें और एक बात उठती है । साहबों और दयानन्द सरस्वती प्रभृति इस देशके पण्डित वैदिक

धर्मको ही श्रेष्ठ धर्म कहते है और पौराणिक या आधुनिक हिन्दू वैदिक धर्मको निकृष्ट बताते हैं। किन्तु अब मैं देखता हूं कि वह बात सरासर गलत है। भक्तिशून्य जो धर्म है, वह अधूरा या निकृष्ट धर्म है—इसलिये जब वेदमें भक्ति नहीं है तब वैदिक धर्म ही निकृष्ट है, पौराणिक या आधुनिक वैष्णवादि धर्म ही श्रेष्ठ धर्म है। जो लोग इन धर्मोंको लोप करके वैदिक धर्मको फिरसे चलानेकी चेष्टा करते हैं उनको भ्रान्त समझता हूं—

गुरु। ठीक है। परन्तु यह भी कहना पड़ता है कि यह बात ठीक नहीं है कि वेदमें कहीं भक्तिवाद नहीं है। शाण्डिल्य सूत्रके टीकाकार स्वप्नेश्वरने छान्दोग्य उपनिषद्‌से एक वचन उद्धृत किया है। उसमें भक्ति शब्दका व्यवहार न होनेपर भी भक्तिवादका सार मर्म है। वह वचन यों है—

"आत्मैवेदं सर्वमिति स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड़ः आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड्-भवतीति।"

इसका यह अर्थ है कि आत्मा यह सभी है (अर्थात् पहले जो कुछ कहा गया है)। जो इसे देखकर, इसे सोचकर, इसे जानकर आत्मामें रत होता है, आत्मामें खेलता है, आत्मा ही जिसका मिथुन (सहचर) है, आत्मा ही जिसका आनन्द है, वह स्वराज (अपना राजा या अपने द्वारा रञ्जित) होता है। यह यथार्थ भक्तिवाद है।

बारहवां अध्याय—भक्ति।

ईश्वरपर भक्ति—शाण्डिल्य।

-:0:-

गुरु। श्रीमद्भगवद्गीता ही भक्ति-तत्त्वका प्रधान ग्रंथ है। किन्तु गीताका भक्तितत्त्व समझानेसे पहले ऐतिहासिक रीत्यनुसार वेदमें जो कुछ भक्तितत्त्व है वह तुमको सुनाना अच्छा है। वेदमें

यह बात प्रायः नहीं है, छान्दोग्य उपनिषद्में कुछ है, यह कह चुका हूं। जो है उसके साथ शाण्डिल्य महर्षिका नाम संयुक्त है।

शिष्य। जो भक्तिसूत्रके प्रणेता है?

गुरु। पहले तुमको बताना चाहिये कि शायद दो शाण्डिल्य थे। एक उपनिषदमें कहे हुए,—ये ऋषि थे और दूसरे शाण्डिल्य-सूत्रके प्रणेता थे। प्रथम शाण्डिल्य प्राचीन ऋषि थे और दूसरे शाण्डिल्य उनके पीछेके पण्डित थे। भक्तिसूत्रके ३१ वें सूत्रमें प्राचीन शाण्डिल्यका नाम आया है।

शिष्य। अथवा यह हो सकता है कि आधुनिक सूत्रकारने पुराने ऋषिके नामसे अपना ग्रंथ चलाया हो। इस समय पुराने ऋषि शाण्डिल्यके मतकी व्याख्या कोजिये।

गुरु। दुर्भाग्यवश उन प्राचीन ऋषिका बनाया कोई ग्रंथ वर्त्तमान नहीं है। शङ्कराचार्य्यने वेदान्तसूत्रका जो भाष्य किया है उसमेंसे सूत्रविशेषके भाष्यके भावार्थसे कोलब्रुक साहब यह अनुमान करते हैं कि पञ्चरात्रके प्रणेता यही प्राचीन शाण्डिल्य थे। ऐसा हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है; पञ्चरात्रमें भागवतधर्म्म कहा तो गया है। किन्तु ऐसे सामान्य मूलपर निर्भर कर स्थिर नहीं किया जा सकता कि शाण्डिल्य ही पञ्चरात्रके प्रणेता थे। सारांश यह कि प्राचीन ऋषि शाण्डिल्यको भक्तिधर्म्मका प्रवर्त्तक समझनेके अनेक कारण हैं। उक्त भाष्यमें ज्ञानवादी शङ्कर भक्तिवादी शाण्डिल्यकी निन्दा करके कहते हैं—

"वेद प्रतिषेधश्च भवति। चतुर्षु वेदेषु परं श्रेयोऽलब्ध्वा शाण्डिल्य इदं शास्त्रमधिगतवान् इत्यादि वेदनिन्दा दर्शनात्। तस्मादसंगत। एषा कल्पना इति सिद्धः।"

अर्थात्, "इसमें वेदका विप्रतिषेध होता है; चारों वेदोंमें परंश्रेयः न लाभकरके शाण्डिल्यने यह शास्त्र अधिगमन किया था। यह सब वेदनिन्दा देखनेसे सिद्ध होता है कि यह कल्पना असङ्गत है।"

शिष्य। किन्तु ये प्राचीन ऋषि शाण्डिल्य भक्तिवादमें कहां तक अग्रसर हुए थे यह जाननेका कुछ उपाय है?

गुरु। कुछ है। छान्दोग्य उपनिषद्के तृतीय प्रपाठकके चौदहवें अध्यायसे कुछ पढ़ता हूं, सुनो—

सर्व्वकर्म्मा सर्व्वकामः सर्व्वगन्धः सर्व्वरसः सर्व्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादर एष मम आत्मान्तर्हृदय एतद्ब्रह्मैतमितः प्रेत्याभिसम्भावितास्मीति यस्य स्यादद्धा न विचिकित्सास्तीतिहस्माह शाण्डिल्यः।"

अर्थात्, "सर्व्वकर्म्मा, सर्व्वकाम, सर्व्वगन्ध, सर्व्वरस इस जगत्में परिव्याप्त वाक्यविहीन और आप्तकाम होनेके कारण आदरकी अपेक्षा नहीं करते। यह मेरी आत्मा हृदयमें है, यही ब्रह्म है। इस लोकसे अलग होकर इसीको सुस्पष्ट रूपसे अनुभव किया करता हूं। इसमें जिनकी श्रद्धा होती है उनको इसमें सन्देह नहीं रहता। यह शाण्डिल्यने कहा है।"

यह बात बहुत दूर तक नहीं गयी। ऐसा उपनिषदोंके ज्ञानवादी भी कहा करते हैं। "श्रद्धा" शब्द यद्यपि भक्तिवाचक नहीं है तथापि श्रद्धा होनेसे सन्देह नहीं रहता कि यह भक्तिकी बात ही है। किन्तु असल बात वेदान्तसारमें मिलती है। वेदान्तसारके कर्त्ता सदानन्दाचार्य्यने उपासना शब्दकी व्याख्यामें कहा है—'उपासनानि सगुणब्रह्मविषयकमानसव्यापाररूपाणि शाण्डिल्यविद्यादीनि।"

अब जरा समझकर देखो। हिन्दू धर्म्ममें ईश्वरकी बहुत प्रकारकी कल्पनाएं हैं—अथवा यों कहो कि हिन्दू ईश्वरको दो प्रकारसे समझते हैं। ईश्वर निर्गुण हैं और ईश्वर सगुण हैं। तुम लोगोंकी अङ्गरेजीमें जिसको Absolute या Unconditioned कहते हैं वही निर्गुण है। जो निर्गुण हैं उनकी कोई उपासना नहीं हो सकती; जो निर्गुण हैं उनका कोई गुणानुवाद नहीं किया जा सकता; जो निर्गुण हैं, जिनका किसी प्रकार Condition of existence नहीं है या नहीं कहा जा सकता उनको क्या कहकर पुकारूंगा? क्या कहकर चिन्तन करूंगा? इसलिये केवल सगुण ईश्वरकी ही उपासना हो सकती है। निर्गुणवादमें उपासना नहीं है। सगुण या भक्तिवादी अर्थात् शाण्डिल्यादि ही उपासना कर सकते हैं। अतएव समझ सकते हैं कि वेदान्तसारकी इस बातसे दो विषय

सिद्ध हुए। प्रथम यह कि सगुणवादके प्रथम प्रवर्त्तक शाण्डिल्य हैं। और उपासनाके भी प्रथम प्रवर्त्तक शाण्डिल्य हैं। और भक्ति सगुणवादकी अनुसारिणी है।

शिष्य। तो क्या सब उपनिषद् निर्गुणवादी हैं?

गुरु। ईश्वरवादियोंमें कोई सचमुच निर्गुणवादी है या नहीं इसमें सन्देह है। जो सचमुच निर्गुणवादी है उनको नास्तिक भी कह सकते हैं। मगर ज्ञानवादी माया नामसे ईश्वरकी एक शक्ति कल्पना करते हैं। वही इस जगत्-सृष्टिका कारण है। उस मायाके कारण ही हम ईश्वरको नहीं जानने पाते। मायासे विमुक्त होनेसे ही ब्रह्मज्ञान पैदा होता है और ब्रह्ममें लीन हो सकते हैं। अतएव ईश्वर उनके लिये केवल ज्ञेय है। यह ज्ञान ठीक "जानना" नहीं है। साधनाके विना वह ज्ञान नहीं उत्पन्न हो सकता। शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान और श्रद्धा ये ६ साधनाएं हैं। ईश्वर विषयक श्रवण, मनन और निदिध्यासनके सिवा दूसरे विषयोंसे भीतरी इन्द्रियोंको रोकना शम है। उनसे बाहरी इन्द्रियोंका दमन ही दम है। उनके अतिरिक्त विषयोंसे निवर्त्तित बाहरी इन्द्रियोंका दमन अथवा विधिपूर्वक विहित कर्म्मोंका परित्याग ही उपरति है। जाड़ा गर्मी आदि सहना तितिक्षा है। मनकी एकाग्रता समाधान है। गुरु वाक्यादिमें विश्वास श्रद्धा है। यह बात नहीं है कि सर्वत्र ऐसा साधन कहा है। किन्तु ध्यान धारणा तपस्यादि प्रायः ज्ञानवादियोंके लिये ही विहित है। अतएव ज्ञानवादियोंकी भी उपासना है। वह अनुशीलन है। मैंने तुम्हें समझाया है कि उपासना भी अनुशीलन है। इसलिये ज्ञानवादियोंके ऐसे अनुशीलनको तुम उपासना कह सकते हो। किन्तु यह उपासना अधूरी है, यह बात पहले कही हुई बातोंको याद करनेसे समझ सकोगे। यथार्थ उपासना भक्तिप्रसूत है। भक्ति-तत्वकी व्याख्यामें गीताका भक्तितत्व तुमको समझाना होगा, उस समय इस बातका जरा खुलासा हो जायगा।

शिष्य। इस समय आपसे जो कुछ सुना उससे क्या यह सम-

भना होगा कि वे प्राचीन ऋषि शाण्डिल्य ही भक्तिमार्गके प्रथम प्रवर्त्तक थे ?

गुरु । छान्दोग्य उपनिषद्‌में जैसे शाण्डिल्यका नाम है वैसे ही देवकीनन्दन कृष्णका भी नाम है। अतएव कृष्ण पहले हैं या शाण्डिल्य ? यह मैं नहीं जानता। सो कह नहीं सकता कि श्रीकृष्ण भक्तिमार्गके प्रथम प्रवर्त्तक हैं या शाण्डिल्य ।

तेरहवां अध्याय—भक्ति ।

भगवद्गीता । स्थूल उद्देश्य ।

-:०:-

शिष्य । अब गीतामें कहे हुए भक्तितत्त्वकी कथा सुननेकी इच्छा है ।

गुरु । गीताके बारहवें अध्यायका नाम भक्तियोग है । किन्तु असली भक्तिकी व्याख्या बारहवें अध्यायमें बहुत ही कम है । दूसरेसे बारहवें तक सब अध्यायोंकी पर्य्यालोचना न करनेसे असली भक्तितत्व समझमें नहीं आता । अगर गीताका भक्तितत्व समझना चाहते हो तो इन ग्यारहो अध्यायोंकी बातें कुछ कुछ समझनी होंगी । इन ग्यारह अध्यायोंमें ज्ञान, कर्म्म और भक्ति तीनोंकी बात है, तीनोंकी प्रशंसा है । जो और कहीं नहीं है वह भी इसमें है । ज्ञान कर्म्म और भक्तिका सामञ्जस्य है । यह सामञ्जस्य होनेसे ही इसको सर्वोत्कृष्ट धर्म्मग्रन्थ कह सकते हैं । किन्तु उस सामञ्जस्यका असली तात्पर्य्य यह है कि इन तीनोंकी जो चरमावस्था है वह भक्ति है । इसलिये गीता वास्तवमें भक्तिशास्त्र है ।

शिष्य । बातें जरा बेढंगी मालूम हो रही हैं । आत्मीय और अन्तरङ्गोंका वध करके राज्य लेनेसे अनिच्छुक होकर अर्जुन युद्धसे निवृत्त होते थे । कृष्णने उनको प्रवृत्ति देकर युद्धमें प्रवृत्त किया था, यही गीताका विषय है । अतएव इसको घातक शास्त्र कहना ही उचित है ; उसको भक्तिशास्त्र कैसे कहेंगे ?

गुरु। बहुतोंका यह अभ्यास है कि वे ग्रन्थका एक पन्ना पढ़कर सोच लेते हैं हम उसका आशय समझ गये। जो लोग द ग्रंथोंके पण्डित हैं वे ही भगवद्गीताको घातक शास्त्र समझते है। वास्तव यह है कि अर्जुनको युद्धमें प्रवृत्त करना ही उस ग्रन्थका उद्देश्य नहीं है। किन्तु वह बात अभी रहने दो। तुमको पहले समझा चुका हूं कि युद्धमात्र ही पाप नहीं है।

शिष्य। समझ चुके हैं कि आत्मरक्षा और स्वदेशरक्षाके निमित्त जो युद्ध होता है उसकी गिन्ती धर्ममें है।

गुरु। यहां अर्ज्जुन आत्मरक्षामें लगे हैं। क्योंकि अपनी सम्पत्तिका उद्धार आत्मरक्षाके भीतर है।

शिष्य। जो नरपिशाच अनर्थक युद्ध करता है वह यही बात कहकर लड़ाई छेड़ता है। नरपिशाचोंके प्रधान, पहले नेपोलियनने फ्रांसरक्षाका बहाना करके युरोपमें रक्तकी नदियां बहायी थीं।

गुरु। उसका इतिहास जब निरपेक्ष लेखकके हाथसे लिखा जायगा तब समझोगे कि नेपोलियनकी बात झूठी नहीं था। नेपोलियन नरपिशाच नहीं थे। खैर, उस पर विचार करनेका दरकार नहीं है। हमें यह विचारना है कि बहुधा युद्ध भी पुण्यकर्म्म होता है।

शिष्य। किन्तु कब ?

गुरु। इस प्रश्नके दो उत्तर हैं। इनमेंसे एक, एक युरोपियन हितवादीका उत्तर है। वह उत्तर यह है कि युद्धमें जहां लाख आदमियोंका अनिष्ट करके करोड़ों आदमियोंका हित साधन किया जाता है वह युद्ध पुण्य कर्म्म है। किन्तु करोड़ों आदमियोंके लिये एक लाख आदमियोंका संहार करनेका ही हमें क्या अधिकार है ? इसका उत्तर हितवादी नहीं दे सकते। दूसरा उत्तर भारतवर्षीय है। यह उत्तर आध्यात्मिक और पारमार्थिक है। हिन्दुओंकी सब नीतियोंका मूल आध्यात्मिक और पारमार्थिक है। वह मूल, युद्धकी कर्त्तव्यताकी तरह एक कठिन तत्त्वके सहारे जिस खूबीसे समझाया जा सकता है किसी वैसी खूबीके साथ साधारण तत्त्वके सहारे

नहीं समझाया जा सकता । इसीसे गीताकार अर्जुनकी युद्धसे अरुचि कल्पित कर उसके उपलक्ष्यमें परम पवित्र धर्म्मकी आमूल व्याख्या करते हैं ।

शिष्य । कथाका आरम्भ कैसे है ?

गुरु । भगवान कर्त्तव्याकर्त्तव्यके सम्बन्धमें अर्जुनको पहले दो तरहका अनुष्ठान समझाते हैं । पहले आध्यात्मिकता, अर्थात् आत्माकी अविनश्वरता आदि जो ज्ञानका विषय है । यह ज्ञानयोग या सांख्ययोगके नामसे कहा गया है । तीसरे अध्यायमें वे कहते हैं—

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्म्मयोगेन योगिनाम् ॥३।३

इसमें ज्ञानयोग पहले संक्षेपमें समझाकर कर्म्मयोग विस्तार सहित समझाते हैं । यह ज्ञान और कर्म्मयोग आदि समझनेसे तुम जान सकोगे कि गीता भक्तिशास्त्र है—इसीसे इतने विस्तारके साथ भक्तिकी व्याख्यामें गीताका परिचय देता हूं ।

चौदहवां अध्याय—भक्ति ।

भगवद्गीता—कर्म्म ।

——:o:——

गुरु । अब तुम्हें गीतोक्त कर्म्मयोग समझाता हूं, किन्तु इसे सुननेसे पहले मैंने भक्तिकी जो व्याख्या की है उसे याद करो । मनुष्यकी जिस अवस्थामें सब वृत्तियां ईश्वरकी ओर झुकती हैं वही मानसिक अवस्था या जिस वृत्तिकी प्रबलतासे वह अवस्था होती है, वही भक्ति है । अब सुनो ।

श्रीकृष्ण कर्म्मयोगकी प्रशंसा करके अर्जुनको कर्म्ममें प्रवृत्ति देते हैं ।

नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्म्मकृत्।
कार्य्यते ह्यवशः कर्म्म सर्व्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥३।५

कोई कभी बेकार होकर नहीं रह सकता। काम न करनेसे स्वाभाविक गुणों द्वारा कर्म्ममें प्रवृत्त होना होगा। इसलिये कर्म्म करना ही होगा। किन्तु वह कौनसा कर्म्म है?

कर्म्म कहनेसे वेदोक्त कर्म्म ही समझा जाता था, अर्थात् अपने कल्याणकी इच्छासे देवताओंको प्रसन्न करनेके लिये याग यज्ञ इत्यादि करना समझा जाता था, यह पहले कह चुका हूं। अर्थात् काम्य धर्म्म समझा जाता था। यहां प्राचीन वेदोक्त धर्म्मके साथ कृष्णोक्त धर्म्मका प्रथम विवाद है, यहांसे गीतोक्त धर्म्मके उत्कर्षके परिचयका आरम्भ है। उस वेदोक्त काम्य कर्म्मके अनुष्ठानकी निन्दा करके कृष्ण कहते हैं।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीतिवादिनः॥
कामात्मनः स्वर्गपरा जन्मकर्म्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्य्यगतिं प्रति॥
भोगैश्वर्य्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥२।४२—४४

"जो लोग वक्ष्यमाण रूप श्रुतिमधुर वाक्य प्रयोग करते हैं वे विवेकशून्य हैं। जो लोग वेदवाक्यमें लीन होकर कहते हैं कि फलसाधक कर्म्मके सिवा और कुछ नहीं है, जो लोग कामके वशीभूत होकर स्वर्गको ही परम पुरुषार्थ समझते हुए कहते हैं कि जन्म ही कर्म्मका फल है, जो (केवल) भोगैश्वर्य्यकी प्राप्तिके साधक विशेष विशेष क्रियाओंके विषयमें ही वाक्यका प्रयोग करते हैं वे बड़े मूर्ख हैं। ऐसे वाक्योंमें लोभायमान चित्त भोगैश्वर्य्यमें आसक्त मनुष्योंकी व्यवसायात्मिका बुद्धि कभी समाधिमें नहीं लग सकती।"

अर्थात् वैदिक कर्म्म या काम्य कर्म्मका अनुष्ठान धर्म्म नहीं है। अथच कर्म्म करना ही होगा। तब क्या कर्म्म किया जाय? जो काम्य नहीं है वही निष्काम है। जो निष्काम धर्म्म नामसे परिचित है वह कर्म्ममार्ग केवल मात्र कर्म्मका अनुष्ठान है।

शिष्य। निष्काम धर्म्म किसे कहते हैं?

गुरु। भगवान निष्काम कर्म्म का यह लक्षण बताते हैं—

कर्म्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

मा कर्म्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्म्मणि ॥२।४७।

अर्थात् तुम्हारा कर्म्ममें ही अधिकार है, कभी कर्म्मफलमें न होने पावे। कर्म्मके फलकी इच्छा मत करना; कर्म्म त्यागकी भी तुम्हारी प्रवृत्ति न हो।

अर्थात् कर्म्म करनेके लिये अपनेको बाध्य समझना, किन्तु उसके किसी फलकी आकांक्षा न करना।

शिष्य। फलकी आकांक्षा न होनेसे कर्म्म करूंगा? अगर पेट भरनेकी इच्छा न रहे तो भात क्यों खाऊंगा?

गुरु, ऐसा भ्रम होनेकी सम्भावना समझकर ही भगवान अगले श्लोकमें अच्छी तरह समझाते हैं।

"योगस्थ. कुरु कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।"

अर्थात् हे धनञ्जय! सङ्ग त्याग करके योगस्थ होकर कर्म्म करो।

शिष्य। कुछ नहीं समझा। पहले बताइये कि सङ्गसे मतलब क्या?

गुरु। आसक्ति। जो कर्म्म करते हो उस पर किसी तरहका अनुराग न हो। भात खानेकी बात कहते थे। भात निःसन्देह खाना होगा। क्योंकि "प्रकृतिज गुण" तुमको खिलावेगा, किन्तु आहारमें अनुराग न होने पावे। भोजनमें अनुरागयुक्त होकर भोजन मत करना।

शिष्य। और "योगस्थ" क्या?

गुरु। अगले चरणमें कहा जाता है।

योगस्थः कुरु कर्म्माणि सङ्गंत्यक्त्वा धनञ्जय।

सिद्ध्यसिद्ध्योः समोभूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥२।४८॥

कर्म्म करना, कर्म्म सिद्ध हो, या असिद्ध हो दोनोंको समान समझना। तुम्हारा जितना कर्त्तव्य है उतना करना; उसमें तुम्हारा कर्म्म सिद्ध हो या न हो समान समझना। यह जो सिद्धि और असिद्धिको समान समझना है उसीको भगवान योग बताते हैं।

इसी प्रकार योगस्थ होकर, कर्म्ममें आसक्तिशून्य होकर कर्म्मका जो अनुष्ठान किया जाय वही निष्काम कर्म्मानुष्ठान है।

शिष्य। अब भी नहीं समझा। मैं सबरी लेकर आपके घर सेंध मारने गया। आप जागते हैं, इससे चोरी न कर सका। इसके लिये दुःखित नहीं हुआ। सोचा "अच्छा, हुआ हुआ, न हुआ न हुआ,।" यहां क्या मैंने निष्काम धर्म्मका अनुष्ठान किया।

गुरु। बात ठीक, 'लाल स्याही'की तरह हुई। तुम मुंहसे "हुआ हुआ, न हुआ न हुआ" कहो चाहे न कहो, अब चोरी करनेका इरादा करोगे तब मनमें ऐसा कभी नही सोच सकोगे। क्योंकि चोरीके फलाकांक्षी न होकर अर्थात् चोरीका माल न लेनेके इरादेसे तुम कभी चोरी करने नहीं जाते। जिसको "कर्म्म" कहते हैं, उसमें चोरी शामिल नहीं है। कर्म्म क्या है यह आगे समझाता हूं। किन्तु चोरीको कर्म्ममें शामिल करने पर भी तुम अनासक्त होकर नहीं करते। इसलिये ऐसे कर्म्मानुष्ठानको सब और निष्काम कर्म्मानुष्ठान नहीं कह सकते।

शिष्य। उसमें जो सन्देह है वह पहले ही कह चुका हूं। मान लीजिये कि मैं बिल्लीकी तरह भात खाने बैठता हूं या विलियम दी साइलेण्टकी तरह देशोद्धार करने जाता हूं, इन दोनोंमें ही तो मुझे फलार्थी होना पड़ेगा। अर्थात् पेट भरनेकी इच्छासे भातकी थाली पर बैठना होगा और देशका दुःख दूर करनेकी इच्छासे देशोद्धारमें लगना पड़ेगा।

गुरु। ठीक इसी बातका उत्तर देता था। तुम अगर पेट भरनेकी इच्छासे भात खाने बैठते हो तो तुम्हारा कर्म्म निष्काम नहीं हुआ। तुम अगर देशका दुःख अपने दुःखके समान या उससे अधिक समझ कर उसके उद्धारकी चेष्टा करते हो तो ... कर्म्म निष्काम नहीं होता।

शिष्य। अगर ऐसी आकांक्षा न हो तो इस कर्म्ममें प्रवृत्त ही क्यों होऊं?

गुरु। केवल तुम्हारा अनुष्ठेय कर्म्म है यही समझकर आहार और देशोद्धारका अनुष्ठान दोनों तुम्हें करना चाहिये। चोरी तुम्हारा अनुष्ठेय नहीं है।

शिष्य। तब यह कैसे मालूम होगा कि कौन कर्म्म अनुष्ठेय है—करने योग्य है और कौन कर्म्म नहीं। इसके बताये बिना तो निष्काम धर्म्मका मूल ही नहीं समझमें आता।

गुरु। वे अपूर्व धर्म्मप्रणेता कोई बात छोड़ नहीं गये हैं। वे बतलाते हैं कि कौन कर्म्म अनुष्ठेय है—

यज्ञार्थात् कर्म्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्म्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ।३।९।

यहां यज्ञ शब्द ईश्वरके लिये है। मेरी बात पर विश्वास न हो तो शङ्कराचार्य्यकी बात मानो। उन्होंने इस श्लोकके भाष्यमें लिखा है—

यज्ञोवै विष्णुरिति श्रुतेर्यज्ञ ईश्वरवस्तदर्थम।

इससे श्लोकका यह अर्थ हुआ कि ईश्वरके लिये या ईश्वरके उद्देश्यसे जो कर्म्म होते हैं उनके सिवा और सब कर्म्म बन्धन मात्र हैं (अनुष्ठेय नहीं हैं) अतएव केवल ईश्वरोद्दिष्ट कर्म्म ही करना। इसका तात्पर्य्य क्या हुआ? यह कि सब वृत्तियोंको ईश्वरकी ओर ले जाना, नहीं तो सब कर्म्म ईश्वरके उद्देश्यके नहीं होंगे। यह निष्काम धर्म्म ही दूसरी बातोंमें भक्ति कहलाता है। इसी प्रकार कर्म्म और भक्तिका सामञ्जस्य अन्यत्र और भी खुलासा हो जाता है। यथा—

मयि सर्व्वाणि कर्म्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्म्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥

अर्थात् विवेकबुद्धिसे सब कर्म्म मुझमें अर्पण करके निष्काम होकर और ममता तथा विकारशून्य होकर युद्धमें प्रवृत्त होओ।

शिष्य। ईश्वरमें कर्म्म अर्पण कैसे हो सकता है?

गुरु। "अध्यात्मचेतसा" इस वाक्यके साथ "संन्यस्य" शब्दको समझना होगा। भगवान शङ्कराचार्य्यने "अध्यात्मचेतसा" शब्दकी व्याख्यामें लिखा है—"अहं कर्त्तेश्वराय भृत्यवत् करो-

मात्यनया बुद्धया।" "कर्त्ता जो ईश्वर हैं उन्हींके लिये उनके नौकरकी तरह काम करता हूं।" यह सोच कर काम करनेसे कृष्णमें कर्म्मार्पण होता है।

अब यह कर्म्म योग समझा? कर्म्म अवश्य कर्त्तव्य है। किन्तु केवल अनुष्ठेय कर्म्म ही कर्म्म है। जो कर्म्म ईश्वरोद्दिष्ट अर्थात् ईश्वरके निमित्त है वही अनुष्ठेय है। उसमें आसक्तिशून्य और फलाकांक्षाशून्य होकर उसका अनुष्ठान करना होगा। सिद्धि और असिद्धिको समान समझना। कर्म्मको ईश्वरमें अर्पण करना अर्थात् कर्म्म उनका है। मैं उनका भृत्यस्वरूप कर्म्म करता हूं। इसी विचार से कर्म्म करना। तभी कर्म्म योग सिद्ध होगा।

इसके करनेसे सब कार्य्यकारिणी और शारीरिकी वृत्तियोंको ईश्वरकी ओर झुकाना होगा। अतएव कर्म्मयोगही भक्तियोग है। भक्तिके साथ इसका ऐक्य और सामञ्जस्य देख लिया। यह अपूर्व तत्व, अपूर्व धर्म्म केवल गीतामें ही है। ऐसी आश्चर्य्यजनक धर्म्मव्याख्या और किसी देशमें कभी नहीं हुई। किन्तु इसकी सम्पूर्ण व्याख्या तुमको अभी तक नहीं मिली है। कर्म्मयोगमें ही धर्म्म सम्पूर्ण नहीं होता; कर्म्म धर्म्मकी केवल पहली सीढ़ी है। कल तुमसे ज्ञानयोगकी कुछ बातें कहूंगा।

पन्द्रहवां अध्याय।—भक्ति।

भगवद्गीता—ध्यान।

गुरु। अब ध्यानके विषयमें भगवदुक्तिका स्थूल मर्म्म सुनो। कर्म्मकी बात कहकर चौथे अध्यायमें अपना अवतार कहते समय भगवान कहते हैं—

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥४।१०॥

इसका भावार्थ यह है कि कितनेही मनुष्य राग भय और क्रोधसे रहित होकर मन्मय (ईश्वरमय) और मेरे उपाश्रित होकर ज्ञान-तपके द्वारा पवित्र होकर मेरे भाव अर्थात् ईश्वरत्व वा मोक्ष पा गये हैं ।

शिष्य । यह ज्ञान कैसा है ?

गुरु । जिस ज्ञानसे सब भूतोंको आत्मामें और ईश्वरमें देखता है । यथा—

येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि । ४ । ३५ ।

शिष्य । वह ज्ञान कैसे पाऊंगा ?

गुरु । भगवानने इसका उपाय यह बताया है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्वदर्शिनः ॥ ४ ३४ ।

अर्थात् प्रणिपात, जिज्ञासा और सेवा करके ज्ञानी तत्वदर्शियोंसे उसे पूछना ।

शिष्य । मैं आपको सेवासे तुष्ट करके प्रणिपात और प्रश्न पूर्वक पूछता हूं । मुझे वह ज्ञान दीजिये ।

गुरु । मै नहीं दे सकता, क्योंकि मैं ज्ञानी भी नहीं हूं; तत्वदर्शी भी नहीं हूं । मगर एक मोटा सङ्केत बता दे सकता हूं ।

ज्ञानसे सब भूतोंको अपनेमें और ईश्वरमें देख सकते हैं—
इस वाक्यमें किस किसका परस्पर सम्बन्ध जाननेयोग्य कहा है ?

शिष्य । भूतका, मेरा और ईश्वरका ।

गुरु । भूतको किस शास्त्रसे जानोगे ?

शिष्य । बाहरी विज्ञानसे ।

गुरु । अर्थात् उन्नीसवीं सदीके कोम्तके पहले चार Mathe-matics, Astronomy, Physics, Chemistry गणित, ज्योतिष, पदार्थतत्व और रसायनसे । इस ज्ञानके लिये आजकलके पाश्चा-त्योंको गुरु बनाना । उसके बाद अपनेको किस शास्त्रसे जानोगे ।

शिष्य। बाह्य विज्ञान और अन्तर्विज्ञानसे।

गुरु। अर्थात् कोम्तके अन्तिम दो Biolagy, Sociology से यह भी पाश्चात्योंसे मांग लेना।

शिष्य। फिर ईश्वरको कैसे जानूंगा !

गुरु। हिन्दूशास्त्रोंसे। उपनिषद्, दर्शन, पुराण, इतिहास और मुख्य करके गीतासे।

शिष्य। तो, जगत्में जो कुछ जानने योग्य है वह सब जानना होगा। पृथिवीमें जितने प्रकारके ज्ञानका प्रचार हुआ है सब जानना होगा। तो ज्ञान यहां शधारण अर्थमें कहा गया होगा ?

गुरु। तुम्हें जो सिखाया है उसको याद रखनेहीसे ठीक समझोगे। ज्ञानार्ज्जनी वृत्तियोंकी पूरी स्फूर्त्ति और पूर्णता होनी चाहिये। सब प्रकारके ज्ञानकी चर्चा किये बिना वह हो नहीं सकती। ज्ञानार्जनी वृत्तियोंकी उपयुक्त स्फूर्त्ति और पूर्णता होनेपर उसीके साथ अनुशीलन धर्मको व्याख्याके अनुसार अगर भक्ति वृत्तिकी भी पूरी स्फूर्त्ति और पूर्णता हुई हो तो ज्ञानार्जनी वृत्तियां जब भक्तिके अधीन हो कर ईश्वरकी ओर जायंगी तभी इस गीतोक्त ज्ञानमें पहुंचोगे। अनुशीलन धर्ममेंही जैसे कर्म्मयोग है वैसेही उसमें ज्ञानयोग है।

शिष्य। मैंने निपट मूर्खकी भांति आपका कहा हुआ समूचा अनुशीलन धर्म्म उलटाही समझा था। अब कुछ कुछ समझमें आ रहा है।

गुरु। इस समय वह बात रहने दो। यह ज्ञानयोग समझनेकी चेष्टा करो।

शिष्य। पहले बताइये कि केवल ज्ञानसेही कैसे धर्म्मकी पूर्णता हो सकती है ? तब तो पण्डित ही धार्म्मिक हैं।

गुरु। यह बात पहले कह चुका हूं। पण्डित्य ज्ञान नहीं है। जिसने ईश्वरको समझा है, जिसने ईश्वर और जगत्का जो सम्बन्ध है उसे समझा है वह केवल पण्डित नहीं है वह ज्ञानी है। पण्डित होने पर भी वह ज्ञानी है। श्रीकृष्ण यह नहीं कहते कि केवल ज्ञानसेही मुझे किसीने पाया है। वे कहते हैं,—

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ ४।१० ।

अर्थात् जो लोग संयतचित्त और ईश्वरपरायण हैं वेही ज्ञानसे पवित्र होकर उनको पाते हैं। असल बात यह है कि कृष्णोक्त धर्म्मका मर्म्म यह नहीं है कि केवल ज्ञानसेही साधन सम्पूर्ण होता हो। ज्ञान और कर्म्म दोनोंका संयोग चाहिये।* केवल कर्म्मसेही नहीं होगा, केवल ज्ञानसेभी नहीं होगा। कर्म्मही ज्ञानका साधन है। कर्म्मसे ज्ञान मिलता है, भगवान कहते हैं,—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म्म कारणमुच्यते। ६।

जो ज्ञान योगपर आरूढ़ होना चाहते हैं उनके आरूढ़ होनेका कारण कर्म्मही कहा जाता है। अतएव कर्म्म करके ज्ञान होगा। यहां भगवद्वाक्यका अर्थ यह है कि कर्म्मयोगके बिना चित्तशुद्धि नहीं होती। चित्तशुद्धिके बिना ज्ञानयोगमें नहीं पहुंचा जाता।

शिष्य। तो क्या कर्म्मसे ज्ञान उत्पन्न होने पर कर्म्मको छोड़ देना होगा?

गुरु। दोनोंका ही संयोग और सामञ्जस्य चाहिये।

योगसंन्यस्तकर्म्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्म्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ॥४।४१॥

* यह कहना फजूल है कि यह बात ज्ञानवादी शङ्कराचार्य्यके मतके विरुद्ध है। उनके मतानुसार ज्ञान और कर्म्ममें समुच्चय नही है। शङ्कराचार्य्यके विरुद्ध मतको शिक्षित सम्प्रदायके सिवा और कोई आजकल नहीं मानेगा, यह बात मैं जानता हूं। पक्षान्तरमें यह भी वक्तव्य है कि श्रीधर स्वामी प्रभृति भक्तिवादी लोग शङ्कराचार्य्यके अनुयायी नहीं हैं। और बहुतसे पहलेके पण्डितोंको शङ्कर-मतके विरोधी होनेके कारण ही शङ्कराचार्य्यको अपना पक्ष समर्थन करनेके लिये भाष्यमें बड़े बड़े प्रबन्ध लिखने पड़े हैं।

हे धनञ्जय! कर्म्मयोगसे जो व्यक्ति सन्यस्तकर्म्म हुआ है और ज्ञानसे जिसका संशय मिट गया है उस आत्मवानको कर्म्म बन्धनमें नहीं रख सकते।

इसलिये चाहिये (१) कर्म्मका संन्यास या ईश्वरार्पण और (२) ज्ञानसे संशयच्छेदन। यों कर्म्मवाद और ज्ञानवादका विवाद मिट जाता है। धर्म्म सम्पूर्ण होता है। इस प्रकारसे धर्म्मप्रणेताओंमें श्रेष्ठ पुरुषने भूतल पर महामहिमामय यह नया धर्म्म प्रचारित किया। कर्म्म ईश्वरमें अर्पण करो; कर्म्मसे ज्ञान प्राप्त करके परमार्थतत्त्वमें संशय मिटाओ। यह ज्ञान भी भक्तिसे युक्त है; क्योंकि,—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्द्धूतकल्मषाः ॥५।१७॥

ईश्वरमें ही जिनकी बुद्धि है, ईश्वरमें ही जिनकी आत्मा है, उनमें जिनकी निष्ठा है और जो तत्परायण हैं उनका सब पाप ज्ञानमें निर्द्धूत हो जाता है, वे मोक्ष पा जाते हैं।

शिष्य। अब समझ रहा हूं कि ज्ञान और कर्म्मके संयोगसे भक्ति है। कर्म्मके लिये यह दरकार है कि कार्य्यकारिणी और शारीरिकी वृत्तियां सबके सब उपयुक्त स्फूर्त्ति और पूर्णता प्राप्त करके ईश्वरकी ओर झुकें। ज्ञानके लिये यह दरकार है कि ज्ञानार्ज्जनी वृत्तियां उसी प्रकार स्फूर्त्ति और पूर्णता प्राप्त करके ईश्वरकी ओर झुकें। और चित्तरञ्जिनी वृत्तियां?

गुरु। वे भी उसी तरह होंगी। वह उनकी चर्चा करते समय बताऊंगा।

शिष्य। तब मनुष्यकी सब वृत्तियां उपयुक्त स्फूर्त्ति और पूर्णता प्राप्त होकर ईश्वरमुखी होने पर यह गीतोक्त ज्ञान कर्म्म-न्यास योगमें परिणत होता है। ये दोनों ही भक्तिवाद हैं। आपने मुझे जो मनुष्यत्व और अनुशीलन धर्म्म सुनाया है वह इस गीतोक्त धर्मकी केवल नयी व्याख्या मात्र है।

गुरु। धीरे धीरे यह बात और भी अच्छी तरह समझोगे।

सोलहवां अध्याय—भक्ति।

भगवद्गीता—सन्न्यास।

:o:-

गुरु। इसके सिवा और एक बात सुनो। हिन्दूशास्त्रके अनुसार जवानीमें ज्ञान लाभ करना होता है और मध्य अवस्थामें गृहस्थ होकर कर्म्म करना पड़ता है। गीतोक्त धर्म्म ठीक ऐसा ही नहीं कहा गया है; वरञ्च ऐसा कहा गया है कि कर्म्म से ज्ञान लाभ करना। यही सत्य है, क्योंकि अध्ययन भी कर्म्म में ही दाखिल है, और केवल अध्ययनसे ज्ञान नहीं हो सकता। जो हो मनुष्यका एक दिन ऐसा भी आता है जो न कर्म्म करनेका समय है और न ज्ञानोपार्ज्जनका। उस समय ज्ञान प्राप्त रहता है और कर्म्म की शक्ति या दरकार भी नहीं रहती। हिन्दूशास्त्रमें इस अवस्थामें तीसरा और चौथा आश्रम लेनेकी विधि है। उसको साधारणत: सन्न्यास कहते हैं। सन्न्यासका खुलासा अर्थ कर्म्म त्याग है। भगवानने इसको भी मुक्तिका उपाय माना है। वरञ्च उन्होंने यह भी कहा है कि ज्ञानयोगमें जानेकी जो इच्छा करता है यद्यपि उसका सहाय कर्म्म ही है किन्तु जो ज्ञानयोगमें पहुंच गया हैं उसका सहाय कर्म्मत्याग है।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शम: कारणमुच्यते।

शिष्य। किन्तु कर्म्मत्याग और संसारत्याग एकही बात है। तो क्या संसारत्याग एक धर्म्म है? ज्ञानीके लिये क्या यही विहित हैं।

गुरु। पहलेके हिन्दूधर्म्म शास्त्रोंकारोंका यही मत है। यहभी सत्य है कि कर्म्मत्याग ज्ञानीकी साधनामें सहायता करता है। इस विषयमें भगवद्वाक्यही प्रमाण है। तथापि कृष्णोक्त इस पुण्यमय धर्म्मकी यह शिक्षा नहीं है कि कोई कर्म्मत्याग या संसारत्याग

करे। भगवान कहते हैं कि कर्म्मयोग और कर्म्मत्याग दोनोंही मुक्तिके कारण हैं ; किन्तु कर्म्मत्यागही श्रेष्ठ है।

संन्यासः कर्म्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।

तयोस्तु कर्म्मसंन्यासात् कर्म्मयोगो विशिष्यते ॥५।२।

शिष्य। यह कभी नहीं हो सकता। अगर ज्वरका घटना अच्छा हो तो ज्वरका रहना कभी अच्छा नहीं हो सकता। अगर कर्म्म त्याग अच्छा है तो कर्म्म अच्छा नहीं हो सकता। क्या ज्वरके त्यागसे ज्वरका रहना अच्छा है?

गुरु। किन्तु अगर ऐसा हो कि कर्म्मको जारी रखकर भी कर्म्म त्यागका फल मिल जाय?

शिष्य। तब कर्म्मही श्रेष्ठ है। क्योंकि उस दशामें कर्म्म और कर्म्मत्याग दोनोंका फल मिलता है।

गुरु। ठीक ऐसाही है। पहलेके हिन्दूधर्म्मका उपदेश है, कर्म्म त्याग करके संन्यास ग्रहण करना, गीताका उपदेश है। कर्म्म ऐसे चित्तसे करो कि उसीमें संन्यासका फल मिले। निष्काम कर्म्म ही संन्यास है। संन्यासमें और अधिक क्या हो? अधिक जो कुछ है वह व्यर्थ दुःख है।

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति।

निर्द्वन्दो हि महावाहो सुखं वन्धात प्रमुच्यते॥

सांख्ययोग पृथग्वालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।

एकमप्यास्थितः सम्यगुभयो र्विन्दते फलम्॥

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।

एकं सांख्यञ्च योगञ्च यः पश्यति स पश्यति॥

संन्यासस्तु महावाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।

योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेनाधिगच्छति ॥५।३-६

एकमप्यास्थितः सम्यगुभयो विन्दते फलम्॥

"जिसको द्वेष नहीं है और आकांक्षा नही है उसको नित्य संन्यासी जानना। हे महावाहो! ऐसे निर्द्वन्द पुरुष ही सुखपूर्वक वन्धनसे मुक्त हो सकते है। यह बात बालकही कहते हैं कि (सांख्य) संन्यास और (कर्म्म) योग पृथक हैं, पण्डित ऐसा नहीं कहते। एकके आश्रयसे एक

साथ ही दोनोंका फल मिलता है। सांख्यामें (संन्यासमें)* जो मिलता है (कर्म्ममें) योगमें भी वही मिलता है। जो दोनोंको एकही समझते हैं वेही यथार्थदर्शी हैं। हे महाबाहो! कर्म्मयोगके बिना संन्यास दुःखका कारण है। योगयुक्त मुनि शीघ्रही ब्रह्मको पाते हैं। "सारांश यह कि जो समस्त अनुष्ठेय कर्मोंको किया करते हैं अथच चित्तमें सब कर्म्मोंके लिये संन्यासी हैं वे ही धार्म्मिक हैं।

शिष्य। ऐसा परम वैष्णव धर्म्म त्याग कर वैरागी लोग इन दिनों करवा कोपीन पहनकर क्यों स्वांग रचते हैं यह समझमें नहीं आता। वैराग्यसे उसका अर्थ तो नहीं जान पड़ता। उस परम पवित्र धर्म्मसे उस पापकी जड़ कटती है अथवा ऐसा पवित्र, सर्व्वव्यापी उन्नतिशील वैराग्य और कहीं नहीं है। इसमें सर्वत्र वही पवित्र वैराग्य, सकर्म वैराग्य है, अथच Asceticism कहीं नहीं है। आपने ठीक ही कहा है कि ऐसा आश्चर्य्यमय धर्म्म, ऐसा सत्यमय उन्नतिकर धर्म्म जगत्में और कभी प्रचारित नहीं हुआ। गीता रहते लोग वेद स्मृति, बाईबल या कुरानमें धर्म्म ढूंढ़ने जाते हैं यह आश्चर्य्य मालूम होताहै। इस धर्म्मके प्रथम प्रचारकके आगे किसीको धर्म्मवेत्ताओंमें गिन्ती नहीं हो सकती। इस धर्म्मके प्रणेता कौन हैं ?

गुरु। मुझे यह विश्वास नहीं है कि श्रीकृष्णने अर्जुनके रथ पर चढ़कर कुरुक्षेत्रमें युद्धसे कुछही पहले ये सब बातें कही थीं। विश्वास न करनेके कई कारण हैं। यह भी कहा जा सकता है कि गीता महाभारतमें क्षेपक है। किन्तु इसका विश्वास मुझे है कि कृष्ण गीतोक्त धर्म्मके सृष्टिकर्त्ता हैं। इसका कारण है। तात्पर्य्य यह कि तुम देख सकते हो, एक निष्काम आदर्श समुदाय मनुष्य-जीवन शासित और नीति तथा धर्म्मके सब उच्च तत्त्व एकता प्राप्त होकर पवित्र होते हैं। काम्य कर्म्मका त्यागही संन्यास है। निष्काम कर्म्मही संन्यास है, निष्काम कर्म्म त्याग संन्यास नहीं है।

* "सांख्य" शब्दके अर्थमें इस समय कुछ सन्देह हो सकता है जिनको ऐसी समझ हो वे शाङ्कर भाष्य देखें।

काम्यानां कर्म्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः :
सर्व्व कर्म्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ १८ । २।

जिसदिन युरोपियन विज्ञान तथा शिल्प और भारतवर्षका यह निष्काम धर्म्म एकत्र होंगे उसी दिन मनुष्य देवता होंगे। उस समय उक्त विज्ञान और शिल्पका निष्कामप्रयोग छोड़कर सकाम प्रयोग नहीं होगा।

शिष्य। क्या मनुष्यको ऐसा दिन नसीब होगा?

गुरु। तुमलोग भारतवासी हो, तुमलोगोंके करनेसे ही होगा। दोनो ही तुम लोगोंके हाथमें हैं। इस समय चाहो तो तुमलोग हो पृथिवीके मालिक और नेता हो सकते हो। यह आशा यदि तुमलोगोंमें न हो तो मेरा बकना व्यर्थ है। जो हो, अब इस गीतोक्त संन्यासवादका असली तात्पर्य्य क्या है? यही कि कर्म्म-हीन संन्यास निकृष्ट संन्यास है। कर्म्म, समझा चुका हूं कि भक्त्यात्मक है। अतएव इस गीतोक्त संन्यासवादका तात्पर्य्य यह है कि भक्त्यात्मक कर्म्मयुक्त संन्यास ही असली संन्यास है।

सत्रहवां अध्याय— भक्ति।

ध्यान विज्ञानादि।

गुरु। भगवद्गीताके पाच अध्यायोंकी बातें तुम्हें समझायीं हैं। पहले अध्यायमें सैन्यदर्शन और दूसरेमें ज्ञानयोगका स्थूल आभास है जिसका नाम सांख्ययोग है; तीसरेमें कर्म्मयोग, चौथेमें न्यासयोग और पांचवेंमें संन्यासयोग है. यह सब तुम्हें समझा चुका। छठेंमें ध्यानयोग है। ध्यान ज्ञानवादियोंका अनुष्ठान है। इसलिये उसकी अलग आलोचना करनेकी दरकार

नहीं है। जो ध्यान मार्गावलम्बी है वह योगी है। योगी कौन है इसका लक्षण इस अध्यायमें लिखा है। जिस अवस्थामें चित्त योगानुष्ठान द्वारा निरुद्ध होकर उपरत होता है; जिस अवस्थामें विशुद्धान्तःकरण द्वारा आत्माको अवलोकन करके आत्मामें ही परितृप्त होता है, जिस अवस्थामें बुद्धिमात्रलभ्य, अतीन्द्रिय, आत्यन्तिक सुख उपलब्ध होता है, जिस अवस्थामें रहनेसे आत्मतत्वसे परिच्युत होना नहीं पड़ता, जिस अवस्थाको लाभ करनेसे दूसरा कोई लाभ अधिक मालूम नहीं होता और जिस अवस्थामें पहुंचनेसे कठिनसे कठिन दुःख भी विचलित नहीं कर सकता उसी अवस्थाका नाम योग है। नहीं तो खाना छोड़कर बारह वर्ष आंखें मूंदे और एक जगह बैठे सोचनेसे योग नहीं होता। किन्तु योगियोंमें भी प्रधान भक्त हैं।

योगिनामपि सर्व्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥ ६। ४७

"जो मुझमें आसक्त होकर श्रद्धापूर्वक मुझे भजते हैं, मेरे मतमें योगयुक्त व्यक्तियोंमें वेही श्रेष्ठ हैं।" यही भगवानकी उक्ति है, अतएव गीतोक्त धर्म्ममें, ज्ञान कर्म्म ध्यान संन्यास—भक्तिके विना कुछ भी सम्पूर्ण नहीं है। भक्ति ही सब साधनोंका सार है।

सातवेंमें विज्ञानयोग है। इसीमें ईश्वर अपना स्वरूप कहते हैं। ईश्वरने निर्गुण और सगुण, अर्थात् स्वरूप और तटस्थ लक्षणसे अपना वर्णन किया है। किन्तु इसमें विशेषरूपसे कहा है कि ईश्वरमें भक्ति करनेके सिवा उनके जाननेका और कोई उपाय नहीं है। अतएव भक्ति ही ब्रह्मज्ञानकी सहाय है।

आठवेंमें तारकब्रह्मयोग है। एकान्त भक्तिसे ही वे प्राप्त होते हैं।

नवें अध्यायमें विख्यात राजगुह्य योग है। इसमें बड़ी ही मनोहारी बातें हैं। इसमें पहले जगदीश्वरने एक बड़ी ही सुन्दर उपमासे अपने साथ जगतका सम्बन्ध प्रकट किया—"जैसे सूतमें सब मणि गुथे हुए हैं वैसे ही मुझमें यह विश्व गुथा है।" नवेंमें और एक सुन्दर उपमा दी गयी है। यथा,—

मेरी आत्मा सबभूतोंको धारण और पालन करती है, किन्तु किसी भूतमें नहीं बसती। जैसे समीरण सर्वत्रगामी और महत् होने पर भी सदा आकाशमें रहता है वैसेही सब भूत मुझमें रहते हैं। हर्बर्ट स्पेंसरके नदी वाले बुलबुलेकी उपमासे यह उपमा कहीं बढ़कर है।

शिष्य। मेरी आंखकी फूली निकल गयी। मेरा विश्वास था कि निर्गुण ब्रह्मवाद Pantheism मात्र है। अब देखता हूं कि उससे बिल्कुल अलग है।

गुरु। अंगरेजी संस्कारके वश होकर इन सबकी आलोचना करनेमें यही दोष है। हम लोगोंमें कितने ही ऐसे बाबू हैं जिनको तामचीनके ग्लासमें न पीनेसे पानी मीठा नहीं लगता। शायद तुम लोगोंको और एक भ्रम है कि मनुष्य मात्र ही—मूर्ख और ज्ञानी, धनी और दरिद्र, पुरुष और स्त्री, बूढ़े और बालक—सब जातियां समान रूपसे परित्राणके अधिकारी हैं। यह साम्य वाद केवल गौतम बुद्धके और ईसाके धर्म्ममें ही है, वर्णभेदज्ञ हिन्दूधर्म्ममें नहीं है। इस अध्यायके दो श्लोक सुनो

समोऽहं सर्व्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥ ९। २९।

* * *

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥ ९। ३२।

"मैं सब भूतोंके लिये समान हूं। मेरा न तो कोई द्वेष्य है और न कोई प्रिय; जो भक्तिपूर्वक मुझे जानता है मैं उसमें हूं और वह मुझमें है।

* * *

पापयोनि भी आश्रय लेनेसे परागति पाती है—वैश्य, शूद्र, स्त्री सभी पाते हैं।

शिष्य। यह शायद बौद्धधर्मसे लिया है।

गुरु। पढ़े लिखों पर यही पागलपन सवार हो गया है।

अङ्गरेज पण्डितोंसे तुम लोगोंने सुना है कि सन् ईस्वीसे ५४३ (या ४४७) वर्ष पहले शाक्य सिंह मरे; इससे उनकी देखादेखी सिद्धान्त करना सीखा है कि जो कुछ भारतवर्षमें हुआ है वह सब बौद्धधर्मसे लिया गया है, तुम लोगोंका दृढ़ विश्वास है कि हिन्दूधर्म्म ऐसी निकृष्ट सामग्री है कि कोई अच्छी वस्तु उसके निजके क्षेत्रसे उत्पन्न नहीं हो सकती। यह नकलनवीस सम्प्रदाय यह बात भूल जाती है कि स्वयं बौद्धधर्म्म ही हिन्दुधर्म्मसे उत्पन्न हुआ है। जब समूचा बौद्धधर्म्म इससे उत्पन्न हुआ तब और कोई अच्छी वस्तु इससे नहीं निकल सकती?

शिष्य। योगशास्त्रकी व्याख्या करते समय आपका यह क्रोध उचित नहीं जान पड़ता। अब राजगुह्य योगका वृत्तान्त सुनना चाहता हूं।

गुरु। राजगुह्य योगको सबसे प्रधान साधन कहा है। इसका खुलासा यह है कि यद्यपि ईश्वर सबका प्राप्य है तथापि जो जिस भावसे चिन्तन करता है वह उसी भावसे उनको पाता है। जो लोग देवदेवियोंकी सकाम उपासना करते हैं वे ईश्वरकी कृपासे सिद्धकाम होकर स्वर्गभोग तो करते हैं, किन्तु ईश्वरको नहीं पाते, परन्तु जो निष्काम होकर देवदेवियोंकी उपासना करते हैं उनकी उपासना निष्काम होनेसे वे ईश्वरकी ही उपासना करते हैं, क्योंकि ईश्वरके सिवा और कोई देवता नहीं है। जो सकाम होकर देवदेवियोंकी उपासना करते हैं उनके भावान्तरमें ईश्वरोपासनासे ईश्वर न पानेका कारण यह है कि सकाम उपासना ईश्वरोपासनाकी असली पद्धति नहीं है। परन्तु ईश्वरकी निष्काम उपासना ही मुख्य उपासना है, इसके विना ईश्वरप्राप्ति नहीं होती। अतएव सब कामनाएं त्यागकर सब कर्म्म ईश्वरमें अर्पण करते हुए ईश्वरमें भक्ति करना ही धर्म्म और मोक्षका उपाय है। यह राजगुह्य योग भक्तिपूर्ण है।

सातवेंमें ईश्वरका स्वरूप कहा है। दसवेंमें उसकी विभूतियोंका वर्णन है। यह विभूतियोग बड़ा ही विचित्र है; परन्तु इस समय उसकी तुम्हें कुछ दरकार नहीं है। दसवेंमें विभू-

तियोंका वर्णन करके उसके प्रत्यक्ष स्वरूप ग्यारहवेंमें भगवानने अर्जुनको विश्वरूप दर्शन कराया। उसीसे बारहवेंमें भक्ति प्रश्न उठा। कल तुम्हें वह भक्ति योग सुनाऊंगा।

अठारहवां अध्याय—भक्ति।

भगवद्गीता-भक्तियोग।

——:o:——

शिष्य। भक्तियोग बतानेसे पहले एक बात समझा दीजिये। ईश्वर एक है, किन्तु साधन भिन्न भिन्न प्रकारका है क्यों है? सीधा रास्ता एकही हो सकता है, पांच नहीं।

गुरु। निःसन्देह सीधा रास्ता एक ही होता है, पांच नहीं; किन्तु सब कोई सब समय सीधे रास्ते नहीं जा सकते। पहाड़की चोटीपर चढ़नेका जो सीधा रास्ता है उस पर दो एक बलवान आदमी ही जा सकते हैं। साधारण के लिये घुमाव फिरावका रास्ताही ठीक है। इस संसारमें अनेक प्रकारके आदमी हैं। उनकी अलग अलग शिक्षा और अलग अलग प्रकृति है। कोई गृहस्थ है, किसीको गृहस्थी नसीब नहीं हुई या हुई हो तो उसे उसने त्याग दिया है। जो अगृहस्थ है उसके लिये सन्न्यास है। जो ज्ञानी है और गृहस्थ भी है उसके लिये ज्ञान और विज्ञान योगही उत्तम है; जो ज्ञानी है, मगर गृहस्थ नहीं है अर्थात् जो योगी है उसके लिये ध्यानयोगही उत्तम है। और आपामर सर्वसाधारणके लिये सब साधनोंमें श्रेष्ठ राजगुह्ययोग ही उत्तम है। अतएव जगदीश्वरने सब प्रकारके मनुष्योंकी उन्नतिके लिये इस आश्चर्यपूर्ण धर्म्मका प्रचार किया है। वे करुणामय हैं जिससे सबके लिये धर्म्म सरल हो जाय, यही उनका उद्देश्य है।

शिष्य। किन्तु आपने जो समझाया है वह अगर सत्य हो तो भक्ति सब साधनोंके अन्तर्गत है। तब तो एक भक्तिको विहित कह देनेसे ही सबके लिये सीधा रास्ता हो जाता।

गुरु। किन्तु भक्तिका अनुशीलन चाहिये। इसीलिये विविध-साधन हैं, विविध अनुशीलनपद्धतियां हैं। मेरा कहा हुआ अनु-शीलन-तत्त्व अगर तुमने समझा हो तो यह, बात जल्द समझ जाओगे। भिन्न भिन्न मनुष्योंके लिये भिन्न भिन्न अनुशीलन-पद्धतियां विधेय हैं। योग उन अनुशीलन-पद्धतियोंका दूसरा नाम मात्र है।

शिष्य। किन्तु जिस प्रकारसे ये योग कहे गये हैं उनसे पाठ-कोंके मनमें एक प्रश्न उठ सकता है। निर्गुण ब्रह्मकी उपासना अ-र्थात् ज्ञान, साधन विशेष कहा गया है और सगुण ब्रह्मकी उपासना अर्थात् भक्ति भी साधन विशेष कही गयी है। कितनोंहीके लिये दोनोंही साध्य हैं। जिसके लिये दोनों साध्य हैं वह किस मार्गपर जाय? जानता हूं कि दोनोंही भक्ति हैं, तथापि ज्ञानबुद्धिमयी भक्ति और कर्म्ममयी भक्तिमें कौन श्रेष्ठ है?

गुरु। बारहवें अध्यायके अन्तमें यही प्रश्न अर्जुनने कृष्णसे किया है और इसी प्रश्नके उत्तरमें बारहवें अध्यायमें भक्तियोग है। यही प्रश्न समझानेके लिये गीताके पहले अध्यायोंका मर्म संक्षेपमें तुम्हें बताया। प्रश्न समझे बिना उत्तर समझमें नहीं आ सकता।

उन्होंने स्पष्ट कहा है कि निर्गुण ब्रह्मके उपासक और ईश्वरभक्त दोनोंही ईश्वरको पाते हैं। किन्तु उनमें भेद यही है कि ब्रह्मोपासक अधिक दुःख भोगते हैं और भक्त सहजमें उद्धार हो जाते हैं।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ताहि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥
ये तु सर्व्वाणि कर्म्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते।
तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात्॥ १२।५-७।

शिष्य। तो यह बताइये कि यह भक्त कौन है?

गुरु। भगवान स्वयं कहते हैं—

अद्वेष्टा सर्व्वभूतानां मैत्रः करुण एवच।

निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी ॥
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पित मनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्व्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभ परित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः ॥
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्ज्जितः ॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियोनरः ॥
ये तु धर्म्मामृतमिदं यथोक्तं पर्य्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियः ॥१२।१३—२०

"जो ममताशून्य है (अर्थात् जिसको 'मेरा' 'मेरा'का ज्ञान नहीं है) जो अहङ्कारशून्य है, जो सुख और दुःखको समान जानता है जो क्षमाशील, सन्तुष्ट, योगी, संयतात्मा और दृढसङ्कल्प है और जिसका मन और बुद्धि मुझमें अर्पित है, ऐसा जो मेरा भक्त है वही मेरा प्रिय है। जिससे लोग नहीं घबराते, जो हर्ष विवाद और उद्वेगसे मुक्त है वही मेरा प्रिय है। जो विषयादिमें अनपेक्ष शुचि, दक्ष, उदासीन, व्यथारहित अथच सर्वारम्भ त्यागनेमें समर्थ है वही मेरा प्रिय है। जिसको किसीसे हर्ष नहीं है, और द्वेष भी नहीं है, जो शोक भी नहीं करता और आकांक्षा भी नहीं करता, शुभ और अशुभ सब कुछ त्यागनेमें समर्थ है वही भक्त मेरा प्रिय है। जिसके लिये शत्रु और मित्र, मान और अपमान, शीतोष्ण सुख और दुःख समान है, जो सङ्गविवर्ज्जित है, जो निन्दा और स्तुति-को तुल्य समझता है, जो संयतवाक्य है, जो हर तरहसे सन्तुष्ट है, जो सदा आश्रयमें नहीं रहता तथा स्थिरमति है वही भक्त मेरा प्रिय है। यह धर्म्मामृत जिस प्रकार कहा है जो उसी प्रकार अनु-

ध्यान करता है वही श्रद्धावान मेरा परम भक्त है, मेरा बड़ा ही प्रिय है।"

अब समझे, भक्ति क्या है? घरमें किवाड़ बन्द करके पूजाका ढोंग रचनेसे भक्त नहीं हो सकता। माला खुटखुटाकर राम राम कहनेसे भक्त नहीं हो सकता, हे राम! हे देव! कहकर शोर मचाते फिरनेसे भक्त नहीं हो सकता; जो आत्मजयी है, जिसका चित्तसंयम है, जो समदर्शी है, जो परोपकारमें लीन है, वही भक्त है। ईश्वरको सदा हृदयमें विद्यमान जानकर जिसने अपना चरित्र पवित्र नहीं किया है, जिसका चरित्र ईश्वरके अनुरूप नहीं है वह भक्त नहीं है। जिसका सारा चरित्र भक्तिसे शासित नहीं हुआ है वह भक्त नहीं है। जिसकी सब चित्तवृत्तियां ईश्वरकी ओर नहीं झुकी हैं वह भक्त नहीं है, गीतोक्त भक्तिका खुलासा यही है। ऐसा उदार और ऐसा प्रशस्त भक्तिवाद संसारमें और कहीं नहीं है। इसीसे भगवद्गीता संसारमें सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है।

उन्नीसवां अध्याय।—भक्ति।

ईश्वर भक्ति—विष्णुपुराण।

गुरु। भगवद्गीताके बाकी अंशकी कोई बात उठानेको अब हमें दरकार नहीं है। अब, मैंने जो कुछ कहा है उसको स्पष्ट करनेके लिये हम विष्णुपुराणोक्त प्रह्लादचरित्रकी समालोचना करेंगे। विष्णुपुराणमें दो भक्तोंकी कथा है। सब लोग जानते हैं कि वे ध्रुव और प्रह्लाद हैं। इन दोनोंकी भक्ति दो प्रकारकी है। जो कहा गया है उससे समझ चुके होंगे कि उपासना दो तरहकी है, स-

जो उपासना निष्काम है वही भक्ति है। ध्रुवकी उपासना सकाम थी; उन्होंने उच्च पद पानेके लिये ही विष्णुकी उपासना की थी। अतएव उनकी को हुई उपासना असली भक्ति नहीं थी; ईश्वरमें उनका दृढ़ विश्वास रहने और मनोवृत्ति समर्पण करने पर भी वह भक्तकी उपासना नहीं थी। प्रह्लादकी उपासना निष्काम थी। उन्होंने कुछ पानेके लिये ईश्वरमें भक्ति नहीं की थी; बल्कि ईश्वरमें भक्ति करनेसे वे अनेक प्रकारकी विपदमें पड़े थे, किन्तु ईश्वरमें भक्ति ही उन सब विपदोंका कारण है, यह जानकर भी उन्होंने भक्ति नहीं छोड़ी। यह निष्काम प्रेमही यथार्थ भक्ति है और प्रह्लाद ही परम भक्त थे। अनुमान होता है कि ग्रन्थकारने सकाम और निष्काम उपासनाके उदाहरणके तौरपर और परस्परकी तुलनाके लिये ध्रुव और प्रह्लाद नामक दो उपाख्यान रचे हैं। भगवद्गीताके राज-योगके सम्बन्धमें जो कहा है वह यदि तुम्हें याद हो तो समझ जाओगे कि सकाम उपासना भी बिलकुल निष्फल नहीं है। जो जिस कामनासे उपासना करता है वह उसे पाता है किन्तु ईश्वरको नहीं पाता। ध्रुवने उच्च पदकी कामनासे उपासना की थी। वे उसे पा गये थे। तथापि उनकी वह उपासना निम्न श्रेणीकी उपासना थी, भक्ति नहीं थी। प्रह्लादकी उपासना भक्ति थी, इसीसे उन्होंने मुक्ति पायी।

शिष्य। कितनेही लोग कहेंगे कि लाभ ध्रुवको ही अधिक हुआ। मुक्ति पारलौकिक लाभ है, उसकी सत्यतामें बहुत लोगोंको सन्देह है। ऐसा भक्तिधर्म्म लोगोंमें आनेकी सम्भावना नहीं है।

गुरु। मुक्तिका असली तात्पर्य्य क्या है यह तुम भूल गये हो। इस लोकमें ही मुक्ति हो सकती है और होती है। जिसका चित्त शुद्ध और दुःखके अतीत है वह इस लोकमें ही मुक्त है। सम्राट दुःखसे अतीत नहीं हैं; किन्तु मुक्त जीव इस लोकमें ही दुःखके अतीत है; क्योंकि वह आत्मजयी होकर विश्वजयी हो गया है। सम्राटको क्या सुख है, यह मैं नहीं कह सकता। बहुत अधिक सुख है, ऐसा अनुमान नहीं होता। किन्तु जो मुक्त अर्थात्

जो मुक्त है वह इस जीवनमें ही सुखी है। इसी लिये तुमसे कहा था कि सुखका उपाय धर्म्म है। मुक्त व्यक्ति की सब वृत्तियां पूरी स्फूर्त्ति पाकर सामञ्जस्ययुक्त हो जाती हैं; इससे वह मुक्त है। जिसकी सब वृत्तियां स्फूर्त्तिप्राप्त नहीं हैं वह अज्ञानता, असामर्थ्य या चित्तकी मलिनताके कारण मुक्त नहीं हो सकता।

शिष्य। मेरा विश्वास है कि इस जीवन्मुक्तकी कामना करके ही भारतवासी इस प्रकार अधःपतित हुए हैं। जो इस प्रकारके जीवन्मुक्त हैं उनका ध्यान सांसारिक कार्य्योंमें उतना नहीं रहता; इसीसे भारतवर्षकी यह अवनति हुई है।

गुरु। मुक्तिका यथार्थ तात्पर्य्य न समझनाही इस अधःपतनका कारण है। जो लोग मुक्ति या मुक्तिपथके पथिक हैं वे संसारसे निर्लिप्त होते हैं, किन्तु निष्काम होकर सब अनुष्ठेय कर्म्मोंका अनुष्ठान करते हैं। निष्काम होनेके कारण उनका कर्म्म स्वदेश और जगत्‌के लिये कल्याणकारी होता है; सकाम कर्म्मियोंके कर्म्मसे किसीका मङ्गल नहीं होता। और उनकी सब वृत्तियां अनुशीलित और स्फूर्त्तिप्राप्त होती हैं, इसलिये वे दक्ष और कर्म्मठ होते हैं; पहले जो भगवद्वाक्य उद्धृत किया है उसमें देखोगे कि दक्षता * भगवद्भक्तका एक लक्षण है। वे दक्ष अथच निष्काम कर्म्मी होते हैं। इसलिये उनसे स्वजाति और जगत्‌का जितना मङ्गल होता है उतना और किसीसे नहीं हो सकता। इस देशके सब लोग ऐसेही मुक्तिमार्गका अवलम्बन करें तो भारतवासी ही जगत्‌में श्रेष्ठ जातिका पद पावें। मुक्तितत्वकी इस यथार्थ व्याख्याका लोप होनेके कारण मैं अनुशीलन वादसे उसे तुम्हारे हृदयङ्गम करा रहा हूं।

शिष्य। अब प्रह्लाद चरित्र सुननेकी इच्छा है।

गुरु। प्रह्लाद चरित्र सविस्तार कहनेकी मेरी इच्छा भी नहीं है और दरकार भी नहीं है। अलबते एक बात प्रह्लादचरित्रमें समझाना चाहता हूं। मैंने कहा है कि केवल हे राम! हे

देव ! कहते फिरनेसे भी नहीं होती। जो आत्मजयी है, सर्वभूतको अपने समान जानकर सब लोगोंके हितमें रत होता है, और शत्रु मित्रके लिये समदर्शी है और निष्काम कर्म्मी है वही भक्त है। यह बात भगवद्गीतामें कही है, सो बता चुका हूं। प्रह्लाद उसके उदाहरण हैं। भगवद्गीतामें जो उपदेश है, उसे विष्णुपुराणमें उपन्यासके ढंगसे खुलासा कर दिया है। गीतामें भक्तके जितने लक्षण कहे गये हैं उन्हें शायद तुम भूल गये हो। इस लिये फिर एक बार सुना देता हूं।

अद्वेष्टा सर्व्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्म्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुख क्षमी॥
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढ़निश्चयः।
मय्यर्पित मनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्व्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥
समः शत्रौच मित्रेच तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्ग विवर्ज्जितः॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः॥

गीता १२। १३-२०

पहलेही प्रह्लादको "सर्वत्र समदृग्वशी" कहा है।

समचेता जगत्यस्मिन् यः सर्व्वेष्वेव जन्तुषु।
यथात्मनि तथान्यत्र परं मैत्र गुणान्वितः॥
धर्म्मात्मा सत्यशौचादिगुणानामाकरस्तथा।
उपमानमशेषाणां साधूनां यः सदाभवत्॥

किन्तु बातें कहनेसे कुछ नहीं होता, काम करके दिखाना होता है। प्रह्लादका पहला काम देखते हैं, कि वे सत्यवादी हैं। सत्यमें उनकी इतनी दृढ़ता है कि किसी प्रकारके भयसे डरकर भी सत्यको नहीं छोड़ते। गुरुके घरसे पिताके पास लाये जाने

पर हिरण्यकशिपुने उनसे पूछा—"क्या सीखा है? उसका सार सुनाओ तो।"

प्रह्लादने कहा—"जो सीखा है उसका सार यही है कि जिनका आदि नहीं है, अन्त नहीं है, मध्य नहीं है, जिनकी वृद्धि नहीं है, क्षय नहीं है, जो अच्युत, महात्मा, सब कारणोंके कारण हैं, उन्हें नमस्कार है।"

इस पर हिरण्यकशिपुने क्रोधसे आँखें लाल करके काँपते हुए होठोंसे प्रह्लादके गुरुको फटकारा। गुरुने कहा—"मेरा दोष नहीं है, मैंने यह सब नहीं सिखाया है।"

तब हिरण्यकशिपुने प्रह्लादसे पूछा—"तब किसने सिखाया रे?

प्रह्लादने कहा—"पिता! जो विष्णु इस जगत्के शास्ता हैं, जो मेरे हृदयमें विराजमान हैं, उन परमात्माको छोड़कर और कौन सिखा सकता है?

हिरण्यकशिपुने कहा—"जगत्का ईश्वर तो मैं हूं; विष्णु कौन है रे दुर्बुद्धि!"

प्रह्लादने कहा जिनका परंपद शब्दोंमें नहीं कहा जा सकता जिनके परंपदका योगी लोग ध्यान करते हैं, जिनसे विश्व है] और जो स्वयं ही विश्व हैं वही विष्णु परमेश्वर हैं।"

हिरण्यकशिपुने बड़े ही क्रोधसे कहा—"क्या तू मरना चाहता है कि बार बार यह बात कहता है? नहीं जानता कि परमेश्वर किसे कहते हैं? मेरे रहते तेरा और कौन परमेश्वर है?

निडर प्रह्लादने कहा—"पिता! वे क्या केवल मेरे ही परमेश्वर हैं? सब जीवोंके वे ही परमेश्वर हैं; तुम्हारे भी वे ही परमेश्वर हैं, धाता विधाता परमेश्वर हैं! क्रोध मत करो, प्रसन्न हो!

हिरण्यकशिपुने कहा—"जान पड़ता है किसी पापाशयने इस दुर्बुद्धि बालकके हृदयमें प्रवेश किया है।"

प्रह्लादने कहा—"केवल मेरे हृदयमें क्यों? वे सब लोगोंमें ही निवास करते हैं। सर्व स्वामी विष्णु ही मुझे, तुम्हें सबको सब कर्म्मोंमें नियुक्त करते हैं;"

अब भगद्वाक्य स्मरण करो । "यतात्मा दृढ़निश्चय: ।" * दृढ़-निश्चय क्यों, वह समझे ? वह "हर्षामर्ष भयोद्वेगैर्मुक्तो य: स च मे प्रिय:" स्मरण करो । अब समझे कि भयसे मुक्त जो भक्त है वह कैसा है ? "मय्यर्पित मनोबुद्धि"से क्या समझा ? † भक्तोंके सब लक्षण समझानेके लिये यह प्रह्लाद चरित्र कहता हूं ।

हिरण्यकशिपुने वहांसे प्रह्लादको निकाल दिया, प्रह्लाद फिर गुरु गृहमें गये । बहुत दिनोंके बाद हिरण्यकशिपुने फिर उनको बुलाकर परीक्षा लेनी आरम्भ की । पहलेही उत्तरमें प्रह्लादने फिर वही बात कही,

कारणं सकलस्यास्य स नो विष्णु प्रसीदतु ।

हिरण्यकशिपुने प्रह्लादको मार डालनेका हुक्म दिया । सैकड़ो दैत्य उनको मारने दौड़े, किन्तु प्रह्लाद "दृढ़निश्चय" "ईश्वरार्पित-मनोबुद्धि" हैं, जो मारने आये, उनको प्रह्लादने कहा, "विष्णु तुम्हारे अस्त्रमें भी हैं, मुझमें भी हैं, इस सत्यके अनुसार मैं तुम्हारे अस्त्रसे नहीं मरूंगा ।" यही "दृढ़निश्चय" है ।

शिष्य । मैं जानता हूं, विष्णुपुराणके उपन्यासमें है कि प्रह्लादको अस्त्रसे कुछ भी चोट नहीं लगी । किन्तु उपन्यासमें ही ऐसी बात हो सकती है; वास्तवमें ऐसी घटना नहीं होती । कोई कैसा ही ईश्वरभक्त हो नैसर्गिक नियम उसके आगे निष्फल नहीं होता । अस्त्र परम भक्तोंका मांस भी काट डालता है ।

गुरु । अर्थात् तुम miracle नहीं मानते । तर्क पुराना है । मैं तुम लोगोंकी तरह ईश्वरकी शक्तिको सीमाबद्ध करना नहीं चाहता । विष्णुपुराणमें जिस प्रकारसे प्रह्लादकी रक्षाका वर्णन है यद्यपि ठीक उसी प्रकारकी घटना नहीं देखी जाती और उपन्यास होनेके कारणही वह वर्णन सम्भव हुआ है, यह भी मानता हूं; किन्तु यह बात तुम नहीं कह सकते कि एक नैसर्गिक नियम द्वारा ईश्वरकी कृपासे दूसरे नियमका ऐसा प्रतिबन्ध नहीं हो सकता जैसा

* सन्तुष्ट: सततं योगी यातात्मा दृढ़निश्चय: ।

† मय्यर्पित मनोबुद्धिर्योमद्भक्त: स मे प्रिय: ।

पहले कभी देखनेमें नहीं आया था। अस्त्र परम भक्तका मास भी काटता है; किन्तु भक्त ईश्वरकी कृपासे अपने बल या बुद्धिका इस प्रकार प्रयोग कर सकता है कि जिनसे वह अस्त्र निष्फल हो जाय। विशेषकर जो भक्त है वह "दक्ष" है; पहले कहा गया है, उसकी सब वृत्तियां भली भांति अनुशीलित हैं; इसलिये यह बड़ाही कार्य्यक्षम है; इसके ऊपर ईश्वरकी कृपा पानेसे वह नैसर्गिक नियमके सहारे ही बहुत बड़ी विपदमें पड़कर भी आत्मरक्षा कर सकता है, इसमें असम्भवही क्या है? जोहो इन सब बातोंकी हमें इस समय कुछ दरकार नहीं जान पड़ती। क्योंकि मैं भक्ति समझाता हूं; भक्त किस प्रकारसे ईश्वरकी कृपा पाते हैं या पाते हैं कि नहीं, यह मैं नहीं समझाता हूं। ऐसे किसी फलका कामना करना भक्तको उचित नहीं है; नहीं तो उसकी भक्ति निष्काम नहीं होगी।

शिष्य। किन्तु प्रह्लादने तो यहां रक्षाकी कामना की—

गुरु। नहीं, उन्होंने रक्षाकी कामना नहीं की। उन्होंने केवल यही मनमें ठीक समझा कि जब मेरे आराध्य विष्णु मुझमें भी हैं और इस अस्त्रमें भी हैं तब इस अस्त्रसे कभी मेरा अनिष्ट नहीं होगा। वह दृढ़निश्चयताही और भी स्पष्ट होती है। केवल यही समझाना मेरा उद्देश्य है। प्रह्लादचरित्र उपन्यास है, इसमें सन्देह ही क्या है? इस उपन्यासमें नैसर्गिक या अनैसर्गिक बातें हैं, इससे क्या? उपन्यासमें ऐसी अनैसर्गिक बातें रहनेसे हानि क्या है? अर्थात् जहां उपन्यासकारका उद्देश्य मानस दशाका विवरण करना है, जड़की गुण व्याख्या करना नहीं है, वहां जड़की अप्राकृत व्याख्या होनेसे मानस दशाकी व्याख्या अस्पष्ट नहीं होती। वरंच बहुधा और अधिक स्पष्ट होती है। इससे जगत्के श्रेष्ठ कवियोंमेंसे कितनोंहीने बहुत कुछ अस्वाभाविकतासे काम लिया है।

फिर अस्त्रसे प्रल्हादको मरते न देखकर हिरण्यकशिपुने उनसे कहा—"अरे दुर्बुद्धिः अब भी शत्रुकी स्तुति करना छोड़ दे! बहुत मूर्ख मत बन। मैं तुझे अपना अभय देता हूं।

अभयकी बात सुनकर प्रल्हादने कहा—"जो सबके हरनेवाले हैं,

जिनके स्मरणसे जन्म जरा, यम प्रभृति सब भय दूर हो जाते हैं।
उन अनन्त ईश्वरके हृदयमें रहते मुझे किसका भय है?"

यह "भयोद्वेगमुक्तः" वाली बात याद करो। इसके बाद हिरण्यकशिपुने सांपोंको आज्ञा दी कि इसे काटो। बात उपन्यासकी है इसलिये मुझमें ऐसा है कि ऐसे वर्णनसे तुम नाराज न होगे सांपके काटनेसे भी प्रह्लाद नहीं मरे। इस पर भी तुम्हें विश्वास करनेको दरकार नहीं है। किन्तु जिस बातके लिये पुराणकारने इस सर्पदंशनका वृत्तान्त लिखा है उस पर ध्यान दो।

सत्वासक्तमतिः कृष्णं दृश्यमानो महोरगैः।
न विवेदात्मनो गात्रं तत्स्मृत्याह्लाद संस्थितः॥

प्रह्लादका मन उस समय कृष्णमें ऐसा आसक्त था कि बड़े बड़े सांप काट रहे तथापि कृष्ण स्मरणके आह्लादमें वे कुछ भी कष्ट अनुभव न कर सके। इसी आह्लादके कारण सुख दुःख समान ज्ञान पड़ता है। उक्त भगवद्वाक्य फिर स्मरण करो "सम दुःख सुखः क्षमी।" "क्षमी" क्या है यह पीछे समझोगे यहां "सम दुःख सुख" समझा?

शिष्य। यही समझा कि भक्तके मनमें एक बड़ा भारी सुख रात दिन रहनेके कारण दूसरे सुख दुःख उसे सुख दुःख नहीं मालूम पड़ते।

गुरु। हां। सांपसे प्रह्लादको मरते न देखकर हिरण्यकशिपुने हाथियोंको आज्ञा दी कि इसको दांतोंसे फाड़कर मार डालो। इस पर हाथियोंके दांत टूट गये और प्रह्लादका कुछ नहीं हुआ। इस पर विश्वास मत करना यह केवल उपन्यास है। किन्तु इस पर प्रह्लादने पितासे क्या कहा सुनो,—

दन्ता गजानां कुलिशाग्र निष्ठुराः
शीर्णा यदेते न बलं ममैतत्॥
महा विपत् पाप विनाशनो हयं
जनार्द्दनानु स्मरणानुभावः॥

"वज्रसे भी कठिन इन हाथियोंके जो दांत टूट गये वह मेरे

बलसे नहीं। जो महा विपद और पापको नाश करनेवाले हैं उन्हींके स्मरणसे ऐसा हुआ है।"

फिर वह "निर्ममो निरहङ्कार"* वाला भगवद्वाक्य स्मरण करो यही निरहङ्कार है। भक्त जानता है कि सब कुछ ईश्वर ही करते हैं इसलिये उसको अहङ्कार नहीं होता।

हाथियोंसे भी प्रल्हादका कुछ नहीं हुआ। यह देखकर हिरण्यकशिपुने आगमें जलानेकी आज्ञा दी। प्रल्हाद आगमें भी नहीं जले। प्रल्हाद "शीतोष्ण सुख दुःखेषु समः" † हैं इसीसे वह आग उनको कमलदलकी तरह ठंडी मालूम हुई। तब दैत्य पुरोहित भार्गवने दैत्यपतिसे कहा कि "इनको आप क्षमा करके हमारे जिम्मे कर दीजिये। अगर इतने पर भी ये विष्णु भक्ति नहीं छोड़ेंगे तो हम लोग अभिचारसे इनको बध करेंगे। हम लोगोंका किया हुआ अभिचार कभी व्यर्थ नहीं जाता।"

दैत्येश्वरके सहमत होने पर भार्गव प्रल्हादको ले जाकर दूसरे दैत्योंके साथ पढ़ाने लगे। प्रल्हादने वहां स्वयं क्लास खोल दिया दैत्य पुत्रोंको एकत्र करके विष्णु भक्तिका उपदेश देने लगे। प्रल्हादकी विष्णु भक्ति और कुछ नहीं—केवल परोपकार व्रत है।

विस्तारः सर्व भूतस्य विष्णोर्विश्वमिदं जगत्।
द्रष्टव्य मात्मवत् तस्माद भेदेन विचक्षणैः॥

* * *

सर्वत्र दैत्याः समतामुपेत
समत्व माराधन मच्युतस्य॥

अर्थात् विश्व, जगत सब भूत विष्णुके विस्तार मात्र हैं, इसलिये चतुर मनुष्य सबको अपनेसे अभिन्न जानें। * * हे दैत्यो! तुम लोग सर्वको समान समझना, यह समता ही (अपने साथ सब भूतोंकी) ईश्वरकी आराधना है।

मेरा अनुरोध है कि तुम प्रल्हादकी उक्ति विष्णुपुराणमें पढ़ना। यहां केवल और दो श्लोक सुनो।

* निर्ममो निरहङ्कारः सम दुःख सुखः क्षमी।

† शीतोष्ण सुख दुःखेषु समः सङ्ग विवर्जितः।

अन्ये भद्राणि भूतानि हीन शक्ति रहं परम्।
मुदं तथापि कुर्व्वीत हानिर्द्वेष फलं यतः।
बद्धवैराणि भूतानि द्वेषं कुर्व्वन्ति चेत्ततः।
शोच्यान्यहो अति मोहेन व्याप्तानीति मनीषिणा॥

"दूसरेका भला होता है और आप हीन शक्ति हो यह देखकर भी आनन्दित होना, डाह मत करना, क्योंकि डाह करनेसे अनिष्ट ही होता है। जिनसे शत्रुता हो गयी है उनसे भी जो डाह करता है उसे बड़े मोहमें फंसा हुआ जानकर ज्ञानी लोग अफसोस करते हैं।"

अब वह भगवानका कहा हुआ लक्षण स्मरण करो।

"यस्मान्नो द्विजते लोको लोकान्नो द्विजते चयः" और 'न द्वेष्टि'* शब्द स्मरण करो। भगद्वाक्य पर पुराण कर्त्ताकी यह टीका है। प्रल्हादको फिर विष्णु भक्तिका उपद्रव करते जानकर हिरण्य कशिपुने विष खिलानेकी आज्ञा दी। विषसे भी प्रल्हाद नहीं मरे। तब दैत्येश्वरने पुरोहितोंको बुलाकर अभिचार क्रियासे प्रल्हादको मारनेका आदेश किया। उन्होंने प्रल्हादको एक वार समझाया, कहा, तुम्हारे पिता जगतके ईश्वर हैं, तुम्हारे अनन्तसे क्या होगा? प्रल्हाद "स्थिर मति" † थे; उन्होंने उन लोगोंकी बात हंसोमें उड़ा दी। तब दैत्य पुरोहितोंने भयानक अभिचार क्रिया की। अग्निमयी मूर्त्तिमती अभिचार क्रियाने प्रल्हादकी छाती पर शूल मारा। शूल टूट गया। तब वह मूर्त्तिमान अभिचार निरपराध प्रल्हाद पर प्रयुक्त होनेके कारण अभिचार कारी पुरोहितोंको ही मारने गया प्रल्हाद 'हे कृष्ण! हे अनन्त! इनकी रक्षा करो" कहकर उन जलते हुए पुरोहितोंकी रक्षाके लिये दौड़े। पुकारा—"हे सर्व्वव्यापिन्, हे जगत् स्वरूप, हे जगतके सृष्टिकर्त्ता, हे जनार्दन! इन ब्राह्मणोंको इस दुःसह मंत्राग्निसे रक्षा करो। जैसे सर्व्वभूतोंमें सर्व्वव्यापी जगद् गुरु

* यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।

† अनिकेतः स्थिर मतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः।

विष्णु तुम हो वैसे ही ये ब्राह्मण जी जायं। विष्णुको सर्व्वगत जानकर जैसे मैंने अग्निको शत्रु नहीं समझा, वैसे ही ये ब्राह्मण भी हैं, ये जी जायं। जो मुझे मारने आये थे, जिन्होंने विष दिया था, जिन्होंने मुझे आगमें जलाया था, हाथीसे मुझे घायल किया था, सांपसे कटवाया था मैंने उन सबको मित्र भावसे अपने समान समझा था, शत्रु नहीं समझा, आज उसी सत्यके लिये ये पुरोहित जी जायं।" जब ईश्वरकी कृपासे पुरोहित जीकर प्रल्हादको आशीर्वाद करते हुए अपने घर गये।

क्या ऐसा फिर कभी सुननेमें आवेगा? तुम इससे उन्नत भक्तिवाद और इससे उन्नत धर्म्म और किसी देशके किसी शास्त्रमें दिखा सकते हो?*

शिष्य। मैं स्वीकार करता हूं कि देशी ग्रन्थोंको छोड़कर केवल अङ्गरेजी पढ़नेसे हम लोगोंकी बड़ी हानि हो रही है।

गुरु। भगवद्गीतामें जो भक्त क्षमाशील और शत्रु मित्रको समान समझनेवाला कहा गया है वह कैसा है अब समझा? †

पीछे हिरण्यकशिपुने पुत्रका प्रभाव देखकर पूछा—"तुम्हारा यह प्रभाव कैसे हुआ?" प्रल्हादने कहा—"अच्युत हरि जिनके हृदयमें विराजमान रहते हैं उनका ऐसा ही प्रभाव हुआ करता है। जो दूसरेकी बुराई नहीं सोचता बिना कारण उसकी भी बुराई नहीं होती। जो काम करके मन वाक्यसे दूस-

* मनस्वी बाबू प्रतापचन्द्र मजुमदारने अपने बनाये Oriental Christ नामक उत्कृष्ट ग्रन्थमें लिखा है—"A suppliant for mercy on behalf of those very men who put him to death, he said—Father! forgive them, for they know not what thay do, Can ideal forgiveness go any further? क्यों नहीं Ideal जाता यह प्रल्हाद चरित्र ही देखिये न।

† सम शत्रौच मित्रेच तथा मानाय मानयो:।

रेको बताता है उसके उस बीजसे बहुत अशुभ फल उत्पन्न होते हैं।

केशव मुझमें भी हैं, सब भूतोंमें भी हैं, यह जानकर मैं किसीकी बुराई नहीं चाहता, किसीकी बुराई नहीं करता और किसीको बुरा भी नहीं कहता। मैं सबकी भलाई सोचता हूं, मेरा शारीरिक या मानसिक दैव या भौतिक अनिष्ट क्यों होगा? हरिको सर्व्वमय जानकर सब जीवोंमें ऐसी ही अव्यभिचारिणी भक्ति करना पण्डितोंका कर्त्तव्य है।"

इससे बढ़कर उन्नत धर्म्म और क्या हो सकता है? विद्यालयोंमें यह सब न पढ़ाकर पढ़ाते हैं मेकाले रचित क्लाइव और हेस्टिङ्गस सम्बन्धी पाप भरी कहानी। और उसी उच्च शिक्षाके लिये हमारी शिक्षित मण्डली पागल हो रही है।

पीछे प्रह्लादके वाक्यसे फिर क्रोध करके दैत्यपतिने उनको महलके ऊपरसे गिरा शम्बासुरकी माया और वायुसे मार डालनेकी चेष्टा की। प्रह्लादको इससे भी मरते न देखकर नीतिशिक्षाके लिये फिर गुरुगृहमें भेजा। वहां भी नीतिशास्त्र समाप्त होने पर आचार्य्य प्रह्लादको साथ लेकर दैत्येस्वरने फिर उनकी परीक्षा लेनेके लिये पूछना आरम्भ किया,—

"हे प्रह्लाद! मित्र और शत्रुसे राजाको कैसा व्यवहार करना चाहिये? तीन समयमें कैसा आचरण करना चाहिये—मन्त्री या अमात्यके साथ बाहर और भीतरसे चर, चोर, शङ्कित और अशङ्कितसे, सन्धि विग्रहमें, दुर्ग या आटविक साधनमें ये कण्टक शोधनमें क्या करना चाहिये बताओ?"

प्रह्लादने पिताके पैरोंमें प्रणाम करके कहा,—"अवश्य ही गुरूने ये सब बातें सिखायी हैं और मैंने सीखी भी हैं। किन्तु वे सब नीतियां मुझे पसन्द नहीं हैं। शत्रु मित्रको वशमें करनेके लिये सामदान भेद और दण्ड इत्यादि उपाय कहे गये हैं किन्तु हे पिता! क्रोध न कीजियेगा। मैं उस प्रकार शत्रु मित्रको नहीं देखता। जहां साध्य नहीं है (अर्थात् सब पृथिवीमें किसीको

शत्रु समझना उचित नहीं है) वहां उपायकी क्या दरकार है? जब जगन्मय जगन्नाथ परमात्मा गोविन्द सर्व्वभूतात्मा हैं तब फिर शत्रु मित्र कौन है? तुममें भगवान हैं, मुझमें भगवान हैं और सबमें हैं तब यह मनुष्य मित्र है और यह शत्रु ऐसा क्यों सोचूं? अतएव बुरी चेष्टाओंसे परिपूर्ण इस नीतिशास्त्रकी क्या दरकार है?

हिरण्यकशिपुने क्रोध करके प्रह्लादकी छातीमें लात मारी। और उनको नागपाशमें बांधकर समुद्रमें फेंक आनेकी आज्ञा असुरोंको दी। असुरोंने प्रह्लादको नागपाशमें बांधकर समुद्रमें फेंक दिया और ऊपरसे पहाड़ गिरा दिया। प्रह्लाद उस समय जगदीश्वरकी स्तुति करने लगे। क्योंकि अन्तिम कालमें ईश्वरचिन्तन उचित है; किन्तु ईश्वरसे आत्मरक्षाकी प्रार्थना नहीं की क्योंकि प्रह्लाद निष्काम थे। प्रह्लाद ईश्वरमें तन्मय होकर उनका ध्यान करते करते तल्लीन हो गये। प्रह्लाद योगी थे।* तब उनका नागपाश खुल गया, समुद्रका जल अलग हो गया; पहाड़को अलग करके प्रह्लाद उठ खड़े हुए। तब वे फिर विष्णुका स्तव करने लगे—आत्मरक्षाके लिये नहीं निष्काम होकर स्तव करने लगे। तब विष्णुने उनको दर्शन दिया। और भक्तपर प्रसन्न होकर उनको वर मांगनेकी आज्ञा दी। प्रह्लाद "सन्तुष्टात्मा" थे इससे उन्हें जगत्की किसी वस्तुकी चाह नहीं थी। सो उन्होंने केवल यही मांगा कि—"जिन हजारों योनियोंमें मैं भ्रमण करूं उन सब जन्मोंमेंही तुम पर मेरी अचल भक्ति रहे।" भक्त भक्ति ही मांगता है, भक्तिके लिये भक्ति मांगता है, मुक्तिके लिये या और किसी मतलबसे नहीं। भगवानने कहा—"वह है और रहेगी। और वर मांगो दूंगा।" प्रह्लादने दूसरी बार प्रार्थना की—"तुम्हारी स्तुति करनेसे पिताने मुझसे जो द्वेष किया था उनका वह पाप दूर हो जाय।" भगवानने उसे भी स्वीकार करके तीसरा वर मांगनेका आदेश किया। किन्तु निष्काम प्रह्लादके लिये जगत्में तीसरी प्रार्थना ही नहीं थी क्योंकि वे "सर्व्वारम्भपरित्यागी—हर्ष, द्वेष शोक और आकांक्षा शून्य

*सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढ़ निश्चयः।

तथा शुभाशुभ परित्यागी थे।" * उन्होंने फिर कहा—"तुम पर मेरी भक्ति निश्चल रहे।"

वर देकर विष्णु अन्तर्हित हो गये। उसके बाद हिरण्यकशिपुने प्रह्लादपर फिर कोई अत्याचार नहीं किया।

शिष्य। तराजूपर एक ओर वेद, निखिल धर्म्मशास्त्र, बाइबिल, और कुरान और एक ओर प्रह्लाद चरित्र रखनेसे प्रह्लाद चरित्रही भारी होता है।

गुरु। और प्रह्लाद कथित यह वैष्णव धर्म्म सब धर्म्मोंसे श्रेष्ठ है। यह धर्म्मका सार है इसलिये सब विशुद्ध धर्म्मोंमें ही यह श्रेष्ठ है। जो धर्म्म जितनाही अधिक विशुद्ध है उसमें यह उतनाही अधिक है। इसाई धर्म्म कहें ब्राह्म धर्म्म कहें ये वैष्णव धर्म्मके ही अन्तर्गत हैं। गाड कहें चाहे अल्ला कहें, या ब्रह्म कहें उसी एक जगन्नाथ विष्णुको ही कहते हैं। सर्व भूतोंके अन्तरात्मा स्वरूप ज्ञान और आनन्दमय चैतन्यको जिसने जान लिया है, सब भूतोंमें जिसका आत्मज्ञान है, जो अभेदी है अथवा वैसे ज्ञान और चित्तकी अवस्था पानेमें जिसकी चेष्टा है वे ही वैष्णव है वही हिन्दू है। इसके सिवा जो केवल लोगोंसे द्वेष करता है, लोगोंकी बुराई करता है, दूसरोंसे विवाद करता है, लोगोंका केवल जातिच्युत करनेमें लगा रहता है उसके गलेमें मोटा जनेऊ, ललाट पर लम्बा तिलक, सिरमें चुटिया, बदन पर रामनामी चादर और मुंहमें राम नाम रहने पर भी उसे हिन्दू नहीं कहूंगा। वह म्लेच्छसे भी अधम म्लेच्छ है, उसको छूनेसे भी हिन्दुओंकी हिन्दुआनी नष्ट होती है।

---

* सर्व्वारम्भ परित्यागी योमद्भक्तः समेप्रियः।
यो हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति।
शुभा शुभ परित्यागी भक्तिमान यः समेप्रिय.॥

बीसवां अध्याय । भक्ति ।

भक्तिका साधन ।

——:o:——

शिष्य । अब आपसे पूछना है कि आपसे मैंने जिस भक्तिकी व्याख्या सुनी वह साधन है या साध्य?—(उपाय है या फल ?) (कारण है या कार्य्य ?)

गुरु । भक्ति साधन और साध्य दोनों है । भक्ति मुक्ति देने वाली है इसलिये वह साधन है । और भक्ति मुक्तिप्रदा होने पर भी मुक्ति या और कुछ कामना नहीं करती इस लिये भक्ति ही साध्य है ।

शिष्य । तब इस भक्तिका साधन सुनना चाहता हूं इसके पानेका उपाय जानना चाहता हूं । इसके अनुशीलनकी क्या प्रथा है ? सदासे सुनता आया हूं कि उपासना ही भक्ति प्राप्त करनेका उपाय है किन्तु आपकी व्याख्या अगर ठीक हो तो इसमें उपासनाकी कोई गुञ्जाइश नहीं देखता ।

गुरु । उपासनाकी बड़ी गुञ्जाइश है, किन्तु उपासना शब्द अनेक प्रकारके अर्थोंमें लिया जाता है इसलिये गड़ बड़ हो सकती है । सब वृत्तियोंको ईश्वरकी ओर लेजानेकी ईश्वरमुखी करनेकी जो चेष्टा है उससे बढ़कर श्रेष्ठ उपासना और क्या हो सकती है ? तुम जब तक रात दिन सब कामोंमें अन्तःकरणसे ईश्वरकी चिन्ता नहीं करोगे तब तक उसे नहीं पा सकोगे ।

शिष्य । तो भी जानना चाहता हूं कि हिन्दू शास्त्रमें इस भक्तिके अनुशीलनकी क्या प्रथा प्रचलित है । आपने जो भक्ति तत्त्व समझाया वह हिन्दूशास्त्रोक्त भक्ति होने पर भी हिन्दुओंमें विरल है । हिन्दुओंमें भक्ति है मगर वह और तरहकी है । मूर्त्ति बनाकर, उसके सामने हाथ जोड़कर और गलेमें कपड़ा डालकर गद्गद भावसे आंसू बहाना, "प्रभो ! प्रभो !" "देवि ! देवि !" इत्यादि शब्दोंसे शोर मचाना या रोना और मूर्त्तिका चरणामृत पाने पर उसे सिरमें मुंहमें, आंखमें कानमें नाकमें—

गुरु। तुम जो कह रहे हो वह समझ गया। वह भी चित्तकी उन्नत अवस्था है। उसकी दिल्लगी मत उड़ाओ। तुम्हारे हाक्सली और टिण्डलको अपेक्षा ऐसा एक भावुक मेरी श्रद्धाका पात्र है। तुम गौणभक्तिकी बात कहते हो।

शिष्य। आपकी पहलेकी बातोंसे मैंने यही समझा है कि इसको आप भक्ति नहीं मानते।

गुरु। यह मुख्य भक्ति नहीं है मगर गौण या निकृष्ट भक्ति है। जितने हिन्दू शास्त्र (अपेक्षाकृत आधुनिक हैं वे इसीसे भरे हुए हैं।

शिष्य। गीतादि प्राचीन शास्त्रोंमें मुख्य भक्तितत्त्वका प्रचार रहनेपर भी आधुनिक शास्त्रोंमें गौणभक्ति कैसे आयी है?

गुरु। मैं समझता हूं, यह तुम समझ गये हो कि भक्ति ज्ञानात्मिका और कर्म्मात्मिका है। उसके उभयात्मिका होनेके कारण उसके अनुशीलनमें मनुष्यकी सब वृत्तियां ईश्वरमें समर्पित करनी पड़ती हैं। सब वृत्तियोंको ईश्वरमुखी करना पड़ता है। जब भक्ति कर्म्मात्मिका है और सब कर्म्म ही ईश्वरको समर्पण करने पड़ते हैं तब सब कर्म्मेन्द्रियोंको ईश्वरमें समर्पण करना ही पड़ेगा। इसका तात्पर्य मैंने तुमको समझाया है कि जगत्में जो अनुष्ठेय हैं अर्थात् जो कार्य्य ईश्वरानुमोदित हैं उनमें शारीरिक वृत्तियोंको लगानेसे ही वे ईश्वरमुखी हो जायंगी। किन्तु बहुतेरे शास्त्रकारोंने और तरह समझा है। वे किस भावसे कर्म्मेन्द्रियोंको ईश्वरमें समर्पण करना चाहते हैं उसके उदाहरणके तौरपर कुछ श्लोक भागवत पुराणसे उद्धृत करता हूं।—

हरिनामकी कथा हो रही है—

बिले बतोरुक्रम विक्रमान् ये न शृण्वतः कर्णपुटे नरस्य।
जिह्वासती दार्दुरिकेव सूत न चोप गायत्युरुगाय गाथाः॥
भारः परं पट्टकिरीटजुष्ट मप्युत्तमाङ्गं न नमेन्मुकुन्दम्।
शावौ करो न कुरुतः सपर्य्यां हरेर्ल्लसत्काञ्चनकङ्कणौ वा।
बर्हायिते ते नयने नराणां लिङ्गानि विष्णोर्न निरीक्षते ये।

शाट्टौ नृणां तौ दुर्दुम जन्मभाजौ सोपानि नातु व्रजतो हरे र्यो ॥
जीवञ्छवो भागवतांघ्रि रेणून् न जातु मर्त्यो भिलभेत यस्तु ।
श्री विष्णुपद्या मनुजस्तुलस्याः श्वसञ्छवो यस्तु न वेद गन्धम् ॥
तद् श्मसारं हृदयं बतेदं यद् गृह्यमाणै र्हरिनाम धेयैः ।
न विक्रियेताथ यदा विकारो नेत्रे जलं गात्र रुहेषु हर्षः ॥

भागवत, २ स्क० ३ अ०, २०-२४ ।

जो मनुष्य कानोंसे भगवानका गुणानुवाद नहीं सुनता, हाय ! उसके दोनों कान व्यर्थके गड्ढे ही है। हे सूत ! जो हरिगाथा नहीं गाता उसकी असती जीभ मेंढककी जीभके समान है। जिसका मस्तक मुकुन्दको नमस्कार नहीं करता वह कीट मुकुटसे शोभित होनेपर केवल बोझ है। जिसके दोनो हाथ हरिकी टहल नहीं करते वे सोनेके कङ्गणोंसे शोभित होनेपर भी मुर्देके हाथ समान हैं। मनुष्यकी दोनों आंखें अगर विष्णुमूर्त्ति * न देखें तो वे मोरके पंख तुल्य ही हैं। और जिनके दोनों चरण हरि तीर्थोंमें पर्यटन नहीं करते उनका केवल वृथा जन्म हुआ है। और जो भगवत पदरज नहीं धारण करता वह जीतेही मृतकर है। विष्णु चरणार्पित तुलसीका सुवास जिस मनुष्यने नहीं जाना है वह सांस रहते भी मृतक है। हाय ! हरिनाम भजनेमें जिसका हृदय विकार प्राप्त नहीं होता और विकारमें भी जिसके नेत्रोंमे जल और शीलमें रोमाञ्च नहीं होता उसका हृदय लोहेका है।"

उस श्रेणीके भक्त उसी प्रकार ईश्वरमें बाहरी इन्द्रियोंको समर्पण करना चाहते हैं। किन्तु यह सकारोपासना पर निर्भर है निराकारमें आंख, हाथ, पैर आदिको इस प्रकार लगाना असम्भव है।

शिष्य। किन्तु मेरे प्रश्नका उत्तर अभी तक नहीं मिला। भक्तिका असली साधन क्या है ?

गुरु। वह बात भगवान गीताके इसी बारहवें अध्यायमें कहते हैं—

* यहां "लिङ्गानिविष्णोः" का अर्थ विष्णुकी मूर्त्ति है। बहुत ठीक अर्थ है। फिर शिवलिङ्गका ऐसाही अर्थ न करके कुत्सित उपन्यास और उपासनापद्धतिमें क्यों पड़ते हैं ?

ये तु सर्व्वाणि कर्म्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ;
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥
तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्यु संसार सागरात् ।
भवामि न चिरात् पार्थ मय्यावेशित चेतसाम् ॥
मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्द्धं न संशयः ॥ १२। ५-८

"हे अर्जुन! जो लोग सब कर्म्म मुझमें रख कर मत्परायण होते हैं और अन्य भजना रहित भक्तियोगसे मेरा ध्यान और उपासना करते हैं, मृत्युयुक्त संसारसे उन मुझमें चित्त लगानेवालोंका मैं तुरन्तही उद्धारकर्ता होता हूं। मुझमें तुम मनको स्थिर करो, मुझमें बुद्धिको लगाओ तो तुम शरीर छूटनेपर मुझमें ही निवास करोगे।"

शिष्य। बड़ी कठिन बात है। कितने आदमी इस प्रकार ईश्वरमें चित्त लगा सकते हैं?

गुरु। सभी लगा सकते हैं। चेष्टा करनेसे ही लगा सकते हैं।

शिष्य। किस तरह चेष्टा करना होगी?

गुरु। भगवान वह भी अर्जुनको बता देते हैं;—

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयिस्थिरम्।
अभ्यास योगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय ॥ १२। ९

"हे अर्ज्जुन! यदि मुझमें चित्तको स्थिर न रख सको तो अभ्यास योगसे मुझे पानेकी इच्छा करो।" अर्थात् यदि ईश्वरमें चित्त स्थिर न रख सको तो बार बार चेष्टा करके उसका अभ्यास करो।

शिष्य। सब अभ्यास ही कठिन है और यह बड़ा अभ्यास और भी कठिन है। सब कोई नहीं कर सकते। जो लोग नहीं कर सकते वे क्या करेंगे?

गुरु। जो लोग कार्य्य कर सकते हैं, वे जो कार्य्य ईश्वरके नामपर हैं या ईश्वरके अनुमोदन किये हुए हैं उन्हीं सब कार्य्योंको सदा करनेसे धीरे धीरे ईश्वरमें मनको स्थिर कर सकेंगे। इसीसे भगवान कहते हैं—

अभ्यासेऽप्य समर्थोऽसि मत्कर्मपरमोभव।
मदर्थ मपि कर्म्माणि कुर्व्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि॥ १२। १०

"अगर अभ्यासमें भी असमर्थ हो तो मत्कर्म्म परायण बनो। मेरे लिये सब कार्य्य करनेसे सिद्धि पाओगे।"

शिष्य। किन्तु बहुतेरे कार्य्य करनेके भी योग्य नहीं हैं या निकम्मे हैं। उनके लिये क्या उपाय है?

गुरु। इसी प्रश्नको आशङ्कासे भगवान कहते हैं—

अथैत दप्य शक्तोऽसि कर्त्तुं मद्योग माश्रित:।
सर्व्व कर्म्म फल त्यागं तत: कुरु यतात्मवान्॥ १२। १२

"अगर मदाश्रित कार्य्यमें भी अशक्त हो तो यतात्मा होकर सब कर्म्म फल त्यागकरो।"

शिष्य। यह कैसे? जो काम करने लायक ही नहीं हैं, जिसका कोई काम ही नहीं है वह कर्म्म फल कैसे त्याग करेगा?

गुरु। कोई भी जीव एकदम कार्य्यशून्य-निठल्ला नहीं हो सकता। अगर वह अपनी इच्छासे काम न करे तो भूतोंके दबावसे करेगा। इस विषयमें भगवानकी उक्ति पहले बता चुका हूं। जिससे चाहे जो ही काम बन पड़े वह अगर उसके फलकी चाह न करे तो दूसरी चाह न होनेसे ईश्वर ही एक मात्र उसकी चाह हो जायगे। तब आपसे आप चित्त ईश्वरमें स्थिर होगा।

शिष्य। ये चारों प्रकारके साधन ही बहुत कठिन हैं। और इनमेंसे किसीमें उपासनाकी कोई दरकार नहीं जान पड़ती।

गुरु। ये चारों प्रकारके साधन हो उपायही श्रेष्ठ उपासना हैं। ऐसे साधकोंके लिये और तरहको उपसनाकी दरकार नहीं है।

शिष्य। किन्तु अज्ञ, नीच वृत्त, कलुषित, बालक इत्यादिके लिये लिये ये सब साधन सरल नहीं हैं। वे क्या भक्तिके अधिकारी नहीं हैं?

गुरु। ऐसे स्थानोंमें उपासनात्मिका गौण भक्तिकी दरकार है। गीतामें भगवदुक्ति है कि,-

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

"जो जिस प्रकारसे मेरा आश्रय लेता है मैं उसको उसी प्रकारसे चाहता हूं।"

और दूसरे स्थानपर कहा है—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

"जो भक्तिपूर्वक मुझे पत्र, पुष्प, फल, जल देता है उसे प्रयतात्माकी भक्ति उपहार समझ कर मैं ग्रहण करता हूं।"

शिष्य। तो क्या गीतामें साकार मूर्त्तिकी उपासना विहित बतायी गयी है?

गुरु। फल फूल आदि प्रतिमापर ही चढ़ाना होगा यह कोई बात नहीं है। ईश्वर सर्व्वत्र हैं, जहां दोगे वहीं वे पावेंगे।

शिष्य। प्रतिमादिकी पूजा विशुद्ध हिन्दू धर्म्ममें निषिद्ध है या विहित?

गुरु। अधिकारी भेदसे निषिद्ध और विहित है। इस विषयमें भागवतपुराणसे कपिलकी भक्ति उद्धृत करता हूं। भागवत पुराणमें कपिलको ईश्वरका अवतार माना है। वे अपनी माता देवहूतीको निर्गुण भक्तियोगका साधन बताते हैं। इस साधनमें एकओर सब भूतोंमें ईश्वर चिन्ता, दया, मैत्र, यम नियमादिको रखा है और एक ओर प्रतिमा दर्शन, स्पर्शन, पूजादिको। किन्तु विशेष यही कहते हैं कि,—

अहं सर्व्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा।
तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चाविडम्बनम्॥
यो मां सर्व्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरं।
हित्वार्चां भजते मौढ्याद्भस्मन्येव जुहोति सः॥

३ य स्क। २९श अ; १७। १८॥

"मैं सब भूतोंमें भूतात्मा स्वरूप विद्यमान हूं। उस मुझको अवज्ञा करके (अर्थात् सब भूतोंको न मानकर) मनुष्य प्रतिमा पूजाका ढकोसला करता है। सब भूतोंमें आत्मा रूपी अनीश्वर मुझको त्यागकर जो प्रतिमाको भजता है वह राखमें घी डालता है।

पुनश्च,

अर्च्चादावर्च्चयेत्ताव दीश्वरं मां स्वकर्म्मकृत्।
यावन्नवेद स्वहृदि सर्व्वभूतेष्ववस्थितम्॥ १८।अ २०॥

जो व्यक्ति अपने कार्य्यमें लगा हुआ है वह जितने दिन अपने हृदयमें सब भूतोंमें विद्यमान ईश्वरको न जान सके उतने दिन तक प्रतिमादिकी पूजा करे।

विधि भी रही और निषेध भी। जिसकी सब लोगोंमें प्रीति नही है, जिसको ईश्वरका ज्ञान नहीं है; उसकी प्रतिमादिकी पूजा ढकोसला है। और जिसमें सब लोगोंके प्रति प्रीति उत्पन्न हुई है, जिसे ईश्वरका ज्ञान हुआ है उसके लिये भी प्रतिमादि पूजा अनावश्यक है। परन्तु जितने दिन वह ज्ञान न हो उतने दिन विषयी लोगोके लिये प्रतिमादि पूजा अविहित नहीं है; क्योंकि उससे क्रमश: चित्तशुद्धि हो सकती है। प्रतिमा पूजा गौण भक्तिमें है।

शिष्य। गौणभक्ति आप किसे कह रहे हैं मैं ठीक समझता नहीं।

गुरु। गौणभक्तिमें बहुत विघ्न हैं। जिससे वे विघ्न दूर होते है, शाण्डिल्यसूत्र प्रणेताने उसीका नाम गौणभक्ति रखा है। ईश्वरका नाम लेना फलफूलादिसे उनकी अर्च्चना, बन्दना और प्रतिमादिकी पूजा गौणभक्तिके लक्षण है। सूत्रके टीकाकारने स्वयं स्वीकार किया है कि ये सब अनुष्ठान भक्ति उत्पन्न करनेवाले मात्र हैं, इनका और कोई फल नही है। *

शिष्य। तो आपका मत यही समझा कि पूजा, होम, यज्ञ, नाम जपना, सन्ध्यावन्दनादि विशुद्ध हिन्दूधर्म्मके विरोधी नहीं हैं। अलबत्ते उसमें किसी प्रकारका ऐहिक या पारलौकिक फल नहीं है, ये सब केवल भक्तिके साधनमात्र—भक्ति पानेके उपाय मात्र हैं।

गुरु। सो भी निकृष्ट साधन हैं—गये बीते उपाय हैं। जो उत्कृष्ट साधन है—उत्तम उपाय है वह तुम्हें कृष्णोक्ति उद्धृत करके

* भक्त्या कीर्त्तनेन भक्त्या दानेन पराभक्ति साधये दिति * * फलान्तरं चं गौरवादिति।

बुझाया है। जो उनके करनेमें अयोग्य हो वह पूजादि करे। मगर स्तुति वन्दना आदिके बारेमें एक विशेष बात है। जब केवल ईश्वर चिन्तन ही उसका उद्देश्य है तब वह मुख्य भक्तिका लक्षण है। जैसे शिपद्मे युक्त प्रह्लाद की हुई विष्णु स्तुति मुख्य भक्ति है। और "मेरा पाप कटे" "मैं सुखसे रहूं" इत्यादि सकाम सन्ध्या वन्दना, स्तुति या Prayer गौण भक्तिकी गिन्तीमें है। मैं तुम्हें परामर्श देता हूं कि कृष्णोक्तिके अनुवर्त्ती होकर ईश्वरके काममें लगो।

शिष्य। वह भी तो पूजा होम, याग यज्ञ—

गुरु। यह और एक भ्रम है। ये सब ईश्वरके लिये कार्य्य नहीं हैं; ये सब साधकके अपने कल्याण निमित्त कार्य्य हैं।— साधकके अपने कार्य्य हैं, भक्ति बढ़ानेके लिये भी यदि इन सबको करो तो भी तुम्हारे निजके लिये ही हुए। ईश्वर जगत्मय है; जगत्के कामही उनके काम हैं। अतएव जिनसे जगत्का हित हो वेही कार्य्य कृष्णोक्त "सत्कर्म्म" हैं; इनके करनेमें तत्पर हो और सब वृत्तियोंका भलीभांति अनुशीलन करके उनके कामके योग्य बनो। तब जिनके उद्देश्यसे ये सब कार्य्य हैं उनमें मन स्थिर होगा। तभी क्रमश जीवन्मुक्त होगे।

जो यह न कर सके वह गौण उपासना अर्थात् पूजा, नाम जपकर सन्ध्या वन्दनादिसे भक्तिका निकृष्ट अनुशीलन करें। किन्तु इस दशामें अन्तःकरणसे उन सबका अनुष्ठान करे। नहीं तो भक्तिका कुछ भी अनुशीलन नहीं हो सकता। केवल बाहरी आडम्बरसे बहुत हानि होती है। उस समय वह उपासना भक्तिका साधन न होकर शठताका साधन हो जाती है। उससे तो किसी प्रकारका साधन न करना ही अच्छा है। किन्तु जो किसीप्रकारका साधन नहीं करता उसके शठ और पाखण्डोसे श्रेष्ठ होनेपर भी उसमें और पशुओंमें बहुत थोड़ा अन्तर है।

* केवल बङ्गाली ही नहीं भारतवर्ष भरके अधिकांश निवासी।

(अनुवादक)

शिष्य। तब आजकलके बङ्गाली * अधिकांश या तो पाखण्डी और शठ हैं नहीं पशु तुल्य हैं।

गुरु। हिन्दुओंकी अवनतिका यही एक कारण है। किन्तु तुम देखोगे कि शीघ्रही विशुद्ध भक्तिके प्रचारसे हिन्दू नया जीवन पाकर क्रमवेलके समयके अंगरेजोंकी तरह या मुहम्मदके समयके अरबोंकी तरह बड़े ही प्रतापी हो जायंगे।

शिष्य। मन वच कर्मसे जगदीश्वरसे यही प्रार्थना करता हूं।

इक्कीसवां अध्याय।—प्रीति।

शिष्य। अब दूसरे हिन्दू ग्रन्थोंकी भक्ति व्याख्या सुननेकी इच्छा है।

गुरु। इस अनुशीलनधर्म्मकी व्याख्यामें उसकी दरकार नहीं है। भागवत पुराणमें भी भक्ति तत्त्वकी बहुतसी बातें हैं। किन्तु भगवतद्गीतामें ही उन सबका मूल है। ऐसेही दूसरे ग्रन्थोंमें भी जो कुछ है वह भी गीता मूलक है। इसलिये उन सबकी पर्य्यालोचनामें समय बितानेकी दरकार नहीं है। केवल चैतन्यका भक्तिवाद और तरहका है। किन्तु अनुशीलन धर्म्मसे उस भक्तिवादका वैसा गहरा सम्बन्ध नहीं हैं, बल्कि कुछ विरोध है। इसलिये मैं उस भक्तिवादकी आलोचना नहीं करूंगा।

शिष्य। तब प्रीति वृत्तिके अनुशीलनके विषयमें उपदेश दीजिये।

गुरु। भक्तिवृत्तिका वर्णन करते समय प्रीतिकी भी असली बात कही है। मनुष्यमें प्रीति हुए बिना ईश्वरमें भक्ति नहीं हो सकती। प्रह्लादचरित्रमें प्रह्लादोक्तिसे यह बात खूब समझ गये हो। दूसरे धर्म्ममें यह मत हो चाहे न हो हिन्दूधर्म्मका यही मत है। प्रीतिके अनुशीलनकी दो प्रणाली है; एक प्राकृतिक या युरोपियन और दूसरी आध्यात्मिक या भारतवर्षीय। आध्या-

त्मिक प्रणालीकी बात अभी रहे। पहले प्राकृतिक प्रणालीको मैं जैसा समझता हूं वही समझाता हूं। प्रीति दो प्रकारकी है—सहज और संसर्गज। कुछ मनुष्योंके प्रति प्रीति होना हमारे लिये स्वाभाविक है, जैसे सन्तान पर माता पिताकी, या माता पिता पर सन्तानकी प्रीति। यही सहज प्रीति है। और कुछ लोगोंके प्रीति संसर्गज प्रीति है, जैसे स्त्री पर स्वामीकी, स्वामी पर स्त्रीकी, मित्र पर मित्रकी, मालिक पर नौकरकी या नौकर पर मालिककी, यह सहज और संसर्गज प्रीति ही पारिवारिक बन्धन है और इसीसे पारिवारिक जीवनकी सृष्टि हुई है। परिवार ही प्रीति सीखनेका पहला स्थान है। क्योंकि जिस भावके वश होकर हम आत्मत्याग करनेको उद्यत होते हैं वही प्रीति है। पुत्रादिके लिये हम आत्मत्याग करनेको आपसे आप उद्यत रहते हैं। इसीलिये परिवारसे प्रीतिवृत्तिका अनुशीलन आरम्भ करते हैं सो पारिवारिक जीवन धार्म्मिकोंके लिये बहुत जरूरी है। इसीसे हिन्दूशास्त्रकारोंने शिक्षा समाप्त करनेके बाद ही गार्हस्थ्य आश्रमको अवश्य ग्रहण करनेका आदेश किया था।

पारिवारिक अनुशीलनमें प्रीतिवृत्ति कुछ समझने पर परिवारके बाहर भी फैलना चाहती है। कह चुका हूं कि प्रीतिवृत्ति दूसरी श्रेष्ठ वृत्तियोंकी भांति फैलनेसे बहुत ही तेज है; इसलिये अनुशीलित होते रहनेसे यह घरकी छोटीसी सीमा लांघकर बाहर आना चाहेगी। सो यह क्रमशः कुटुम्ब, मित्रवर्ग, अनुगत और आश्रितमें तथा गोतियोंमें फैलती है। फिर भी अनुशीलन जारी रहे तो इसकी फैलनेकी शक्ति सीमा नहीं पाती। क्रमसे अपने गांवके प्रान्तके देशके मनुष्यमात्र पर फैल जाती है। जब निजिनिज जन्मभूमि पर यह प्रीति विस्तारित होती है तब साधारणतः देश प्रेम कहलाती है। उस दशामें यह वृत्ति बड़ी बलवती हो सकती है और होती भी है। होनेसे यह जाति विशेषके विशेष मङ्गलका कारण होती है। युरोपियनोंमें प्रीतिवृत्तिकी यह अवस्था साधारणतः प्रबल देखी जाती है। युरोपियनोंकी जातीय उन्नति जो इतनी अधिक हुई है उसका एक कारण यही है।

शिष्य। युरोपमें स्वदेशप्रेमका इतना जोर है और हमारे देशमें नहीं, इसका कारण क्या आप कुछ समझा सकते हैं?

गुरु। अच्छी तरह समझा समझा सकता हूं। युरोपका धर्म्म विशेषकर पुराने युरोपका धर्म्म हिन्दूधर्म्मकी तरह उन्नतधर्म्म नहीं है; यही वह कारण है। जरा खोलकर समझाता हूं, सुनो।

देशप्रेम प्रीतिवृत्तिके फैलावकी चरम सीमा नहीं है। उसके ऊपर और एक सीढ़ी है। सारे जगत पर जो प्रीति है वही प्रीति वृत्तिकी चरम सीमा है। वही यथार्थ धर्म्म है। जबतक प्रीतिका विस्तार सारे जगत् पर न हो जाय तबतक प्रीति भी अधूरी है और धर्म्म भी अधूरा है।

आज कल देखा जाता है कि युरोपियनोंकी प्रीति अपने स्वदेशमें ही रह जाती है, अक्सर समस्त मनुष्यलोकमें फैल नहीं सकती। अपनी जातिको प्यार करते हैं दूसरी जातिवालेको देख नहीं सकते, यही उनका स्वभाव है। दूसरा जातिवालोंमें देखा जाता है कि वे स्वधर्म्मियोंको प्यार करते हैं, विधर्म्मियोंको नहीं देख सकते। मुसलमान इसके उदाहरण हैं। किन्तु धर्म्म एक होनेसे जातिके लिये वे फिर उतना द्वेष नहीं करते। मुसलमानोंकी दृष्टिमें सब मुसलमान प्रायः समान हैं; किन्तु अंगरेज कृस्तान और रूसी कृस्तानमें बड़ा झगड़ा है।

शिष्य। यहां मुसलमानकी प्रीति भी जागतिक नहीं है और युरोपकी प्रीति भी जागतिक नहीं है।

गुरु। मुसलमानके प्रीतिविस्तारका बाधक उसका धर्म्म है। सारा जगत् मुसलमान हो जाय तो वह सारे जगतको प्यार कर सकता है, किन्तु सारे संसारके कृस्तान हो जाने पर जर्मन जर्मनके सिवा, फरासीसी फरासीसीके सिवा और किसीको प्यार नहीं कर सकता। अब प्रश्न यह है कि यूरोपियन प्रीति देशव्यापी होकर भी आगे क्यों नहीं बढ़ती है?

इस प्रश्नके उत्तरमें समझना होगा कि प्रीतिस्फूर्त्तिका कार्य्यतः विरोधी कौन है? कार्य्यतः विरोधी आत्मप्रीति है। पशुपक्षीकी भांति मनुष्यमें आत्मप्रीति भी बड़ी जबरदस्त है। पर प्रीतिकी

अपेक्षा आत्मप्रीति जबरदस्त है। इसीसे उन्नत धर्मके द्वारा चित्त शासित न होनेसे आत्म प्रीतिके कारण प्रीतिके विस्तारकी सीमा बंध जाती है। अर्थात् दूसरे पर प्रीति उतनी ही दूर तक बढ़ती है जितनी दूर तक उसका आत्मप्रीतिसे मेल खाता है उससे अधिक नहीं होती। पारीवारिक प्रीतिका आत्मप्रीतिसे मेल है; यह पुत्र मेरा है, यह स्त्री मेरी है, ये मेरे सुखकी सामग्री हैं, इसलिये मैं उनको प्यार करता हूं। इसके बाद कुटुम्ब, मित्र, स्वजन, जातिवाले भी मेरे हैं आश्रित अनुगत भी मेरे हैं, वेभी मेरे सुखके उपादान हैं इसीसे मैं उनको प्यार करता हूं। उसी तरह मैं अपने ग्रामको, अपने नगरको, अपने देशको प्यार करता हूं। किन्तु जगत् मेरा नहीं है, मैं जगत्को प्यार नहीं करूंगा। पृथिवीपर ऐसे करोड़ों मनुष्य हैं जिनका देश मेरे देशसे अलग है, किन्तु ऐसा कोई नहीं है जिसकी पृथिवी मेरी पृथिवीसे अलग है। इसलिये पृथिवी मेरी नहीं है, मैं पृथिवीको क्यों प्यार करने लगा?

गुरु। क्यों, क्या इसका उत्तर नहीं है?

गुरु। युरोपमें तरह तरहके उत्तर हैं और भारत वर्षमें एक उत्तर है। युरोपमें हितवादियोंका Greatest good of the greatest numbe" है, कोम्तका Humanity पूजा है, सबसे बढ़ कर इसका जागतिक प्रीतिवाद है, सब मनुष्य एक ईश्वरकी सन्तान हैं इसलिये सब भाई भाई हैं येही सब उत्तर हैं।

शिष्य। इन सब उत्तरोंके रहते विशेषकर इसाई धर्मकी इस उन्नत नीतिके रहते भी युरोपमें प्रीति देशसे आगे क्यों नही बढ़ती?

गुरु। इसका कारण खोजनेके लिये प्राचीन ग्रीस और रोममें जाना होगा। प्राचीन ग्रीस और रोममें कोई उन्नत धर्म नही था, जो पौत्तलिकता सुन्दरकी और शक्तिमानकी पूजा मात्र है उससे बढ़कर और कोई उच्च धर्म नहीं था। संसारभरके लोगोंको क्यों प्यार करूंगा इसका कोई उत्तर नहीं था। इसीसे वहांवालोंको प्रीति कभी देशसे बाहर नहीं हुई। किन्तु ये दोनों जातियां बहुत उन्नत स्वभाव आर्यवंशीय थीं; उनके स्वभाविक बड़प्पनके गुणसे

उनकी प्रीति देशतक फैलकर बहुत तेज और मनोहर हुई थी। देश प्रेममें ये दोनों जातियां पृथिवी पर विख्यात हैं।

आजकलका युरोप कृस्तान हो चाहे जो हो उसकी शिक्षा मुख्यत: प्राचीन ग्रीस और रोमसे हुई है। ग्रीस और रोम उसके चरित्रके आदर्श हैं। उस आदर्शने युरोपपर जितना अधिकार जमाया है उतना हजरत ईसाने नहीं। और एक जातिने वर्त्तमान युरोपियनोंकी शिक्षा और चरित्र पर कुछ प्रभाव डाला है। मैं यहूदो जातिकी बात कहता हूं। यहूदी जाति भी विशेषकर देशानुरागी है, लोकानुरागी नहीं। इन तीन ओरकी त्रिवेनीमें पड़कर युरोप देशानुरागी हो गया है लोकानुरागी नहीं हो सका। अथच ईसाका धर्म्म (सब आदमी भाई भाई हैं) युरोपका धर्म्म है। वह भी वर्त्तमान है। किन्तु इसाई धर्म्म इन तीनोंके सामने दुर्बल होनेसे केवल मुंहपर ही रह गया है। युरोपियन मुंहसे तो लोकानुरागी हैं और भीतरसे तथा काममें केवल देशानुरागी हैं। यह बात समझी?

शिष्य। यह समझ गया कि प्राकृतिक या युरोपियन अनुशीलन क्या है। समझा कि इससे प्रीतिको पूरी उन्नति नहीं होती। देश प्रेममें ही अटक जाती है क्योंकि उसकी आत्मप्रीति आकर उज्र उठाती है कि मैं दुनियाको क्यों प्यार करूंगी दुनियासे मेरा विशेष क्या सम्बन्ध है? अब प्रीतिके पारमार्थिक या भारतवर्षीय अनुशीलनका मर्म्म समझाइये।

गुरु। उसको समझानेसे पहले भारतवासियोंकी दृष्टिमें ईश्वर क्या हैं यह विचारकर देखो। इसाइयोंके ईश्वर जगत्‌से अलग हैं। यद्यपि वे जगत्‌के ईश्वर हैं किन्तु जैसे जर्मनी या रूसके राजा सब जर्मन या सब रूससे एक अलग आदमी हैं, वैसेही इसाइयोंके ईश्वर हैं। वे पार्थिव राजाकी भांति अलग रहकर राज्यपालन और राज्यशासन करते हैं—शिष्टोंका पालन और दुष्टोंका दमन करते हैं और लोग क्या करते हैं इसकी खबर पुलिसकी तरह रखते हैं। उनपर प्रेम करनेकी इच्छा होने पर पार्थिव राजा पर प्रेम करनेके

लिये जैसे प्रीतिवृत्तिका विशेष विस्तार करना होता है, वैसा ही करना पड़ता है।

हिन्दुओंके ईश्वर वैसे नहीं हैं। वे सर्व्वभूतमय हैं। वे ही सब जीवोंकी अन्तरात्मा हैं। वे जड़ जगत् नहीं हैं, जगत्से अलग हैं किन्तु जगत् उन्हींमें है। जैसे सूतमें मणिहार है, जैसे आकाशमें वायु है, वैसेही उनमें जगत् है। मुझमें वे विद्यमान हैं। मुझपर प्रेम करनेसे उनपर प्रेम होता है। उनपर प्रेम न होनेसे मुझपर भी प्रेम नहीं होता। उनपर प्रेम करनेसे सब मनुष्यों पर प्रेम हो जाता है। सब मनुष्यों पर प्रेम न करनेसे उनपर प्रेम नहीं होता, अपने पर प्रेम नहीं होता अर्थात् सारा जगत् प्रीतिके भीतर न आ जानेसे प्रीतिका अस्तित्वही नहीं रहता। जबतक नहीं समझ सकूंगा कि सब जगत् ही मैं हूं, जबतक नहीं समझूंगा कि सब लोगोंमें और मुझमें कुछ भी भेद नहीं है, तबतक मुझमें ज्ञान नहीं होगा, धर्म्म नहीं होगा, भक्ति नहीं होगी, प्रीति नहीं होगी। इसलिये जागतिक प्रीति हिन्दू धर्म्मके मूलमें ही है, अटूट, अभिन्न, जागतिक प्रीतिके बिना हिन्दुत्व नहीं है। भगवानका वह महावाक्य फिर उद्धृत करता हूं—

सर्व्वभूतस्थमात्मानं सर्व्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योग युक्तात्मा सर्व्वत्र सम दर्शन:॥
यो मां पश्यति सर्व्वत्र सर्व्वञ्च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥*
यस्तु सर्व्वाणि भूतान्यात्मन्येवा पश्यति।
सर्व्वभूतेषु चात्मानन्ततोन विजुगुप्सते॥
यस्मिन सर्व्वाणि भूतान्यात्मैवा भुद्विजानत:।
तत्रक: मोह: क: शोक एकत्व मनुपश्यत:॥

जो योग युक्तात्मा होकर सब जीवोंमें अपनेको देखता है और अपनेमें सब जीवोंको देखता है तथा सर्व्वत्र समान देखता है, जो मुझको सर्व्वत्र देखता है, मुझमें सबको देखता है मैं उससे अदृश्य नहीं होता, वह भी मुझसे अदृश्य नहीं होता।

---

* यह धर्म्म वैदिक में। वाजसनेय संहितोपनिषद्में है—

सारांश यह कि मनुष्य पर प्रीति करना हिन्दूशास्त्रके मतसे ईश्वरभक्तिके अन्तर्गत है ; मनुष्य पर प्रीति हुए बिना ईश्वरमें भक्ति नहीं होती ; भक्ति और प्रीति हिन्दूधर्म्ममें अभिन्न हैं और अभेद्य हैं, भक्तितत्त्वकी व्याख्या करते समय यह बात दिखायी है,

भगवद्गीता और विष्णुपुराणोक्त प्रह्लाद चरित्रसे जो जो वाक्य उद्धृत किये हैं उनमें उसे तुमने देखा है। प्रह्लादको जब हिरण्यकशिपु ने पूछा कि शत्रु से राजा को कैसा व्यवहार करना चाहिये तब प्रह्लाद ने उत्तर दिया। "शत्रु कौन है? सभी विष्णु (ईश्वर) मय हैं, शत्रु मित्र किस प्रकार बिलगाये जा सकते हैं? वहीं प्रीतितत्त्व की हद्द हो गयी। और मैं समझता हूं इस एक बातसे ही सब धर्म्मोंसे हिन्दूधर्म्मकी श्रेष्ठता प्रमाणित हो गयी। प्रह्लादकी उन सब युक्तियोंको और गीतासे जो जो बात उद्धृत किये हैं उनको फिर स्मरण करो। याद न हो तो ग्रंथमें फिर पढ़ो। इसके बिना हिन्दूधर्म्ममें कहा हुआ प्रीतितत्त्व नहीं समझ सकोगे। यह प्रीति जगत्का बन्धन है, इस प्रीतिके बिना जगत् बन्धन शून्य बिखरे हुए जड़पिण्डोंकी ढेरी मात्र है। प्रीति न होनेसे परस्पर विद्वेषपरायण मनुष्य जगत्में वास करनेके अयोग्य होते, बहुत समय तक पृथिवी या तो मनुष्य रहती या मनुष्य लोगोंके लिये असह्य नरक बन जाते। भक्तिके बाद प्रीतिसे ऊंची वृत्ति दूसरी नहीं है। उसीसे यह जगत् ईश्वरमें गुंथा हुआ है। ईश्वर ही प्रीति है, ईश्वरही भक्ति है,—वृत्तिरूपी जगदाधार होकर वे लोगोंके हृदयमें रहते हैं। अज्ञान हमें ईश्वरको नहीं जानने देता और अज्ञानही हमको भक्ति प्रीतिसे भुलवा रखता है। इसलिये भक्ति प्रीतिके पूरे अनुशीलनके लिये ज्ञानार्ज्जनी वृत्तियोंका पूरा अनुशीलन दरकार है। तात्पर्य्य यह है कि सब वृत्तियोंके सम्यक् अनुशीलन और सामञ्जस्यके बिना पूरा धर्म्म नहीं प्राप्त होता, इसका प्रमाण तुम्हें बार बार मिला है।

शिष्य। अब प्रीतिवृत्तिकी भारतवर्षीय या पारमार्थिक अनुशीलन पद्धति समझी। ज्ञानके द्वारा ईश्वरका स्वरूप समझकर जगत्के साथ उनकी और अपनी अभिन्नता धीरे धीरे हृदयङ्गम

करनी होगी। धीरे धीरे सब लोगोंको अपने समान देखना सीखनेसे, प्रीति प्रवृत्तिकी पूरी उन्नति होगी। इसका फल भी समझा। आत्मप्रीतिके इसका विरोधी होनेकी सम्भावना नहीं है क्योंकि समस्त जगत् आत्ममय हो जाता है! इसलिये इसका फल केवल देश प्रेमही नहीं हो सकता, सब लोगों पर प्रेमही इसका फल है। प्राकृतिक अनुशीलनका फल युरोप केवल देश प्रेम मात्र हुआ है किन्तु क्या भारतमें लोकप्रेम उत्पन्न हुआ है?

गुरु। आजकलकी बात छोड़ दो। आजकल पश्चिमी शिक्षाका जोर बहुत बढ़ जानेसे हम लोग देशप्रेमी हो रहे हैं, अब लोकप्रेमी नहीं हैं। अब दूसरी जाति पर हममें द्वेष उत्पन्न हो रहा है। किन्तु पहले यह नहीं था; देशप्रेमकी नामकी चीज इस देशमें नहीं थी। यह बात भी नहीं थी। दूसरी जातिपर दूसरा भाव नहीं था। हिन्दू राजा थे, उसके बाद मुसलमान राजा हुए, हिन्दू प्रजाने इसपर कुछ नहीं कहा। हिन्दुओंके सामने हिन्दू और मुसलमान समान थे। मुसलमानके बाद अङ्गरेज राजा हुए, हिन्दू प्रजा कुछ नही बोली। बल्कि हिन्दुओंने ही अङ्गरेजोंको बुलाकर राज्य पर बिठाया। हिन्दू सिपाहियोंने अङ्गरेजोंकी ओरसे लड़कर हिन्दुओंका राज्य जीतकर अङ्गरेजोंको दिया। क्योंकि हिन्दुओंको अङ्गरेजो पर दूसरी जाति होनेसे कुछ द्वेष नहीं था। आज भी अङ्गरेजोंके अधीन भारतवर्ष बड़ा ही प्रभुभक्त है। अङ्गरेज इसका कारण न समझकर सोचते हैं कि हिन्दू दुर्बल होनेके कारण बनावटी प्रभुभक्त हैं।

शिष्य। मगर साधारण हिन्दू प्रजा या अङ्गरेजोंके सिपाहियोंने यह समझा था कि ईश्वर सब जीवोंमें हैं, सभी मैं हूं इसपर तो विश्वास नहीं होता।

गुरु। यह नहीं समझा था। किन्तु जातीय धर्म्मसे जातीय चरित्र गठित होता है। जो जातीय धर्म्म नहीं समझता वह भी जातीय धर्म्मके आधीन होता है, जातीय धर्मका प्रभाव उसपर पड़ता है। धर्म्मका गूढ़ मर्म्म बहुत थोड़े आदमी सम-

झते हैं। जो थोड़ेसे समझते हैं उन्हींके अनुकरण और प्रभावसे जातीय चरित्र सुधरता और बनता है। यह जो अनुशीलन धर्म्म तुमको समझाता हूं उसको साधारण हिन्दू सहजमें समझ लेंगे ऐसा भरोसा मुझे इस समय नहीं है। किन्तु यह भरोसा है कि विद्वान इसे ग्रहण करेंगे तो इससे जातीय चरित्र गठित हो सकेगा। जातीय धर्म्मका मुख्य फल बहुत थोड़े आदमी पाते हैं किन्तु गौणफल सभी पा सकते हैं।

शिष्य। इसके सिवा एक और बात है। आपने प्रीतिकी जो पारमार्थिक अनुशीलन पद्धति समझायी उसके फलसे लोकप्रेममें देशप्रेम डूब जाता है। किन्तु देशप्रेमके अभावसे भारतवर्ष सात सौ वर्षसे पराधीन होकर अवनतिमें आ गया है। इस पारमार्थिक प्रीतिसे जातीय उन्नतिका सामञ्जस्य कैसे हो सकता है?

गुरु। वह निष्काम कर्म्मयोगके द्वारा ही होगा। जो अनुष्ठेय कर्म्म है उसको निष्काम होकर करना। जो कर्म्म ईश्वरानुमोदित है वही अनुष्ठेय है। आत्मरक्षा, देशरक्षा, दूसरेसे सताये जानेवालेकी रक्षा, अनुन्नतकी उन्नति करना—ये सभी ईश्वरानुमोदित कार्य्य हैं इसलिये अनुष्ठेय हैं—करने योग्य हैं। सो निष्काम होकर आत्मरक्षा, देशरक्षा, पीड़ित देशियोंकी रक्षा, और देशी लोगोंकी उन्नति करना।

शिष्य। निष्काम आत्मरक्षा कैसी? आत्मरक्षा तो सकाम ही है।

गुरु। इसका उत्तर कल दूंगा।

बाईसवां अध्याय।—आत्मप्रीति।

शिष्य। आपसे पूछा था कि निष्काम आत्मरक्षा कैसी है? आपने कहा था कि "इसका उत्तर कल दूंगा।" अब वह उत्तर सुनना चाहता हूं।

गुरु। तुम यह आशा मत करना कि अपने इस भक्तिवादके समर्थनमें मैं किसी जड़वादीकी सहायता लूंगा। तथापि हरबर्ट-स्पेन्सरकी एक बात तुम्हें पढ़कर सुनाता हूं।

A creature must live before it can act. From this it is a corollary that the acts by which each maintains his own life must, *speaking generally*,* precede in imperativeness all other acts of which he is capable. For if it be asserted that these other acts must precede in imperativeness the acts of which maintain life; and if this, accepted as a general law of conduct, is conformed to by all, then by postponing the acts which maintain life to the other acts which life makes possible, all must lose their lives. The acts required for continued self-preservation including the enjoyment of benefits achieved by such acts, are the first requisites to universal welfare. Unless each duly cares for himself his care for others is ended by death; and if each thus dies there remain no others to be cared for †

इसलिये जगदीश्वरकी सृष्टिरक्षाके लिये आत्मरक्षा बहुत ही जरूरी है। जगदीश्वरकी सृष्टिरक्षाके लिये दरकारी होनेसे यह ईश्वरोद्दिष्ट कार्य्य है। ईश्वरोद्दिष्ट कर्म्म है, इसलिये आत्मरक्षा भी निष्काम कर्म्म बनायी जा सकती है और बनाना ही कर्त्तव्य है।

अब परहित और पररक्षासे आत्मरक्षाको मिलाकर देखो। परहित धर्म्मसे आत्मरक्षा धर्म्मका गौरव अधिक है। यदि संसारमें आदमी एक दूसरेकी भलाई न करें, एक दूसरेकी रक्षा न करें तो संसार मनुष्यशून्य नहीं होगा। असभ्य समाज इसका उदाहरण है। किन्तु सब आत्मरक्षासे मुंह मोड़

* Italics मेरे किये हुए हैं।

† Data of Ethics, Chap 1

लें तो सभ्य या असभ्य कोई समाज, किसी प्रकारका मनुष्य या जीव संसारमें नहीं रहेगा। इसलिये परहितसे पहले अपनी प्राण-रक्षा है।

शिष्य। ये बातें मुझे अश्रद्धाके योग्य मालूम पड़ती हैं। भला बताइये तो कि दूसरेको न देकर मैं खाऊं?

गुरु। तुम जो कुछ भोजन करते हो अगर वह सब दूसरेको दे दो तो पांच ही सात दिनमें तुम्हारे दानधर्म्मकी इतिश्री हो जायगी। क्योंकि तुम स्वयं न खानेसे मर जाओगे। दूसरेको देना मगर दूसरेको देकर आप खाना। अगर दूसरेको देनेके लिये न अंटे तो लाचार दूसरेको न देकर आप ही खाना। यह "न अंटे" ही सब अधर्म्मोंकी जड़ है। जिसको अपने आहारके लिये सेरभर मलाई और डेढ़ सेर हलवा चाहिये उसे दूसरेको देनेके लिये कैसे अंट सकता है। जो सब जीवोंको समान समझता है, अपनेको और दूसरेको एक भावसे देखता है वह दूसरेको जैसे दे सकता है वैसे ही आप खाता है। यही धर्म्म है—स्वयं उपवास करके दूसरेको देना धर्म्म नहीं है। क्योंकि अपनेको और दूसरेको समान करना होगा।

शिष्य। अच्छा मान लिया कि मेरा उदाहरण ठीक नहीं है। किन्तु क्या कभी परोपकारके लिये अपना प्राण देना कर्त्तव्य नहीं है?

गुरु। अनेक समय अवश्य कर्त्तव्य है। उस समय वैसा न करना ही अधर्म्म है।

शिष्य। उसके दो एक उदाहरण सुनना चाहता हूँ।

गुरु। जिन माता पितासे तुमने प्राण पाया है, जिनके यत्नसे तुम धर्म्म कर्म्म करनेके योग्य हुए हो उनकी रक्षाके लिये दरकार पड़ने पर अपना प्राण देना ही धर्म्म है, न देना अधर्म्म है।

इसी तरह प्राणदानादि उपकार अगर तुमने दूसरेसे पाया हो तो उसके लिये भी अपना प्राण देना कर्त्तव्य है।

जिनके तुम रक्षक हो, उनके लिये भी अपना प्राण देना कर्त्तव्य है। अब विचार करके देखो कि तुम किसके किसके रक्षक हो।

तुम रक्षक हो (१) स्त्री पुत्रादि परिवारके, (२) स्वदेशके, (३) मालिकके अर्थात् जिसने वेतन देकर नियुक्त कर रखा है, उसके और (४) शरणागतके। इसलिये स्त्री पुत्रादि, स्वदेश, मालिक और शरणागतकी रक्षाके लिये अपना प्राण देना धर्म्म है।

जो अपनी रक्षा करनेमें असमर्थ हैं, मनुष्य मात्र ही उनके रक्षक हैं। स्त्री, बालक, बूढ़े, बीमार और अन्धे, लूले लंगड़े आदि अङ्गहीन आत्मरक्षा करनेमें असमर्थ हैं। उनकी रक्षाके लिये प्राण परित्याग करना धर्म्म है। ऐसे ही और भी बहुतसे स्थान हैं। सबकी गिनती नहीं की जा सकती। दरकार भी नहीं है। जिसकी ज्ञानार्ज्जनी और कार्य्यकारिणी वृत्तियां अनुशीलित और सामञ्जस्यको प्राप्त हुई हैं वह सब दशामें समझ सकेगा कि इस स्थान पर प्राण देना धर्म्म है और ऐसे स्थान पर अधर्म्म है।

शिष्य। आपके कहनेका तात्पर्य्य यह समझा कि आत्मप्रीति प्रीतिवृत्तिकी विरोधी होने पर भी घृणाके योग्य नहीं है। उपयुक्त नियमसे उसकी सीमा बांधकर उसका भी सम्यक अनुशीलन कर्त्तव्य है। यही न?

गुरु। वास्तवमें जब अपना पराया समान हो गया तब आत्मप्रीति और जागतिक प्रीतिको अलग अलग समझना भी उचित नहीं है। ठीक तौरसे दोनोंका अनुशीलन और सामञ्जस्य होनेसे आत्मप्रीति जागतिकप्रीति अन्तर्गत हो जाती है। क्योंकि मैं तो जगतसे बाहर नहीं हूं। धर्म्मका, विशेषकर हिन्दूधर्म्मका मूल एकमात्र ईश्वर है। ईश्वर सब जीवोंमें है; इसलिये सब जीवोंका हित करना हमारा धर्म्म है, क्योंकि, कहा है कि सब वृत्तियोंको ईश्वरमुखी करना ही मनुष्य जन्मका परम उद्देश्य है। जब सब जीवोंका हित करना धर्म्म है तब दूसरेका हित करना मेरा धर्म्म है, वैसे ही अपना हित करना भी मेरा धर्म्म है। क्योंकि मैं भी तो सब जीवोंमें हूं; ईश्वर जैसे दूसरे जीवोंमें हैं वैसे ही मुझमें भी है। इसलिये दूसरेकी रक्षादि भी मेरा धर्म्म

है और अपनी रक्षादि भी मेरा धर्म्म है। आत्मप्रीति और जागतिकप्रीति एक है।

शिष्य। मगर इसमें झगड़ा यह है कि जहां आत्महित और परहितमें विरोध है। वहां अपना हित करूंगा या दूसरेका? पहलेके धर्म्मवेत्ताओंका तो यही मत है कि आत्महित और परहितमें परस्पर विरोध हो तब परहित करना हो धर्म्म है।

गुरु। ठीक ऐसी बात किसी धर्म्ममें है, सो मैं नहीं जानता हूं। ईसाई धर्म्मकी यह उक्ति है कि अपने साथ दूसरेका जैसा व्यवहार करानेकी इच्छा रखते हो, वैसा ही व्यवहार तुम दूसरोंके साथ करो। इस उक्तिसे परहितको प्रधानता नहीं दी गयी है। किन्तु वह बात रहने दो, क्योंकि, मुझे इस अनुशीलन तत्त्वमें परहितको एक स्थान या प्रधान मानना पड़ेगा। किन्तु तुमने जो विषय उठाया है उसकी अच्छी तरहसे मीमांसा हो सकती है। इस मीमांसाका प्रथम और प्रधान नियम यही है कि दूसरेका अनिष्ट करना ही अधर्म्म है। दूसरेका अनिष्ट करके अपना हित साधन करनेका किसीको अधिकार नहीं है। यही हिन्दू धर्म्ममें कहा है, ईसाई, बौद्ध आदि अन्य धर्म्मावलम्बी, आधुनिक दार्शक और नीतिवेत्ताओंका भी यहीं मत है। अनुशीलन तत्त्व यदि समझ सको, तब यह समझ गये होगे कि दूसरेका अनिष्ट, भक्ति, प्रीति प्रभृति सब श्रेष्ठ वृत्तियां समुचित अनुशीलनके विरोधी और विघ्नकारी है और वह साम्यज्ञान, भक्ति और प्रीतिका लक्षण, उसके उच्छेदक है। दूसरेका अनिष्ट, भक्ति, प्रीति, दया आदि अनुशीलनके विरोधी हैं, इसलिये जहां दूसरेका अनिष्ट होवे वहां उसके द्वारा अपना हितसाधन नहीं करना चाहिये। यही अनुशीलन धर्म्म है और हिन्दूधर्म्मकी आज्ञा है। आत्मप्रीति तत्त्वका यही पहिला नियम है।

शिष्य। यह नियम कैसे चलेगा, जरा देखना चाहिये। एक आदमी चोर है, उसका परिवार खाने बिना मरता है। चोरोंके ऊपर अकसर ऐसी ही बीतती है। उसने रातको मेरे मकानमें सेंध मारी है, इरादा यह है कि कुछ चोरी करके अपने और अपने

परिवारके लिये आहार जुटावे। इसको पकड़ कर मैं उचित दण्ड दूंगा। या भेटके तौर पर कुछ धन देकर विदा करूंगा ?

गुरु। उसको पकड़कर उचित दण्ड देना।

शिष्य। तब मेरी सम्पत्ति रक्षारूपी इष्टसाधन तो हुआ किन्तु चोर और उसके निरपराधी स्त्री पुत्रादिकी बड़ी बुराई हुई। यहां आपका नियम लगता है ?

गुरु। चोरके निरपराधी स्त्री पुत्रादि अगर भूखों मरें तो तुम उनके खानेके लिये कुछ दे सकते हो। चोर भी अगर खाने बिना मरे तो उसको भी खानेको दे सकते हो। किन्तु चोरको दण्ड देना होगा। क्योंकि दण्ड न देनेमें केवल तुम्हारी ही बुराई नहीं है सब लोगोंकी बुराई है। चोरको दण्ड न देनेसे चोरी बढ़ती है और चोरी बढ़नेसे समाजकी बुराई है।

शिष्य। यह तो विलायती हितवादीकी बात है आपके मनमें Greatest good of greatest number का यहां अवलम्ब लेना पड़ेगा।

गुरु। हितवाद मत हंसीमें उड़ा देनेकी चीज नहीं है। हितवादियोंका भ्रम यही है, वे समझते हैं कि सब धर्म्मतत्त्व इस हितवाद मतके ही भीतर हैं। मगर ऐसा नहीं है यह धर्म्मतत्त्वका एक मामूली अंशमात्र है। मैंने उसे जिस स्थानपर रखा है वह मेरे विख्यात "अनुशीलन तत्त्व" के एक कोनेका नाममात्र है। वह तत्त्व सत्य मूलक है परन्तु धर्म्म तत्त्वके समूचे क्षेत्रको नही घेर सकता। धर्म्म भक्तिमें, सब जीवों पर सम दृष्टि रखनेमें उस महाशिखरसे जो सहस्रों धाराएं निकली हैं हितवाद उसको एक छोटीसे भी छोटी धारा है। छोटा चाहे हो इसका जल पवित्र है। हितवाद धर्म्म है अधर्म्म नहीं।

सारांश यह कि, अनुशीलन धर्म्ममें greatest good of the greatest number गणित तत्त्वके सिवा और कुछ नहीं है। मगर जीवमात्रका हित करना धर्म्म है तब एक आदमीकी भलाई करना धर्म्म है और एककी भलाईकी अपेक्षा दस आदमियोंकी उतनी ही भलाई अवश्य ही दसगुना धर्म्म है। अगर एक ओर

एक आदमीकी भलाई हो और दूसरी ओर दस आदमियोंकी उतनी ही भलाई हो और परस्पर विरोधका कार्य हो तो एक ही भलाई छोड़कर दसकी भलाई करना ही धर्म्म है और दसकी भलाई छोड़कर एककी भलाई करना अधर्म्म है।* यही good greatest number है।

फिर जहां एक ओर एक आदमीकी थोड़ी भलाई हो और दूसरी ओर दूसरेकी अधिक, और परस्पर विरोध हो तो थोड़ी भलाई छोड़कर अधिक भलाई करना ही धर्म्म है इसके विपरीत अधर्म्म है। यह "greatest good" है।

शिष्य। यह तो स्पष्ट ही है।

गुरु। जितना स्पष्ट उस समय जान पड़ता है उतना काम पड़ने पर नहीं जान पड़ता। एक ओर श्रेष्ठ ब्राह्मण रामाधीन बाजपेयीके घरमें कुमारी कन्या पड़ी रहनेसे चिन्ताग्रस्त हैं; धनके अभावसे उसका व्याह अच्छे घरमें करनेमें असमर्थ हो रहे हैं और दूसरी ओर महंगू डोम बालबच्चों सहित खाने बिना मर रहा है। यहां "greatest good" महंगूकी ओर है। किन्तु अगर दोनों तुम्हारे सामने हाथ पसारें तो तुम शायद बाजपेयीजीको पांच रुपये देकर भी सकुचाओगे। सोचोगे कि बहुत कम दिया और महंगूको चार पैसे दे देनेसे ही अपनेको दानियोंमें गिनोगे अन्ततः अधिक हिन्दुस्थानी ऐसे ही हैं।

शिष्य। खैर उसे जाने दीजिये। जब सब जीव समान हैं तब थोड़ेको अपेक्षा अधिक आदमियोंकी और एकका थोड़ी भलाईकी अपेक्षा दूसरेकी अधिक भलाई करना धर्म्म है। जहां एक ओर एक आदमीको अधिक भलाई है और दूसरी ओर दस आदमियोंकी कम (बराबर नहीं) वहां क्या धर्म्म है?

गुरु। वहां हिसाब लगाना। मान लो कि एक आदमीकी

---

* आशा है इससे कोई यह अर्थ नहीं निकालेगा कि दसकी भलाईके लिये एकको बुराई करनी होगी। ऐसा करना धर्म्म विरुद्ध है।

जितनी भलाई हो सकती है और दूसरी ओर सौ आदमियोंमेंसे हरेकका चौथाई अंश हो सकता है। यहां उन सौ आदमियोंकी भलाईका अङ्क १०० ÷ ४ = २५ है। यहां एककी अधिक भलाई छोड़कर सौकी थोड़ी भलाई करना ही धर्म्म है। अगर उन सौमेंसे हरेककी भलाईका अंश चौथाई न होकर हजारवां होता तो उनकी भलाईके परिमाणका मीजान एक आदमीका दशांश होगा। उस दशामें सौ आदमियोंकी भलाई छोड़कर एककी भलाई करना ही धर्म्म है।

शिष्य। उपकारका इस तरह हिसाब होता है? पैमानेसे नापा जाता है कि इतना गज इतना इञ्च हुआ?

गुरु। इसका अच्छा उत्तर अनुशीलनवादी ही दे सकते हैं। जिनकी सब वृत्तियां, विशेषकर ज्ञानार्ज्जनी वृत्तियां भलीभांति अनुशीलित और स्फूर्त्तिप्राप्त हुई हैं। वे हित अधिकका परिमाण ठीक ठीक समझनेके योग्य हैं। जिनका वैसा अनुशीलन नहीं हुआ है उनके लिये यह बहुत कठिन है, किन्तु उनके लिये सब प्रकारका ही धर्म्म कठिन है यह बात शायद तुम समझ गये हो, तो भी तुम देखोगे कि साधारणत: मनुष्य कितने ही स्थानोंमें ऐसा कार्य्य कर सकते हैं। युरोपियन हितवादी इस बातको अच्छी तरह समझाते हैं इसलिये मुझे वह सब कहनेकी दरकार नहीं है। हितवादका इतना समझानेका मेरा उद्देश्य यही है कि तुम समझ जाओगे कि अनुशीलन और हितवादका स्थान कहां है।

शिष्य। कहां है?

गुरु। प्रीतिवृत्तिके सामञ्जस्यमें। सब जीव समान हैं किन्तु व्यक्ति विशेषके हितमें परस्पर विरोध पड़ने पर मापकर या हिसाब लगा कर देखना। अर्थात् Greatest good of the greatest number मैंने जिस अर्थमें समझाया है उसीका अवलम्बन करना, जब परोपकारमें ऐसा विरोध हो तब किस तरह यह विचारना चाहिये यह समझाया है। किन्तु दूसरोंकी भलाईमें परस्पर विरोधकी अपेक्षा अपनी और दूसरेकी भलाईका झगड़ा और भी अधिक और कठिन होता है। वहां भी सामञ्जस्यका वही नियम है। अर्थात्—

(१) जहां एक ओर तुम्हारी और दूसरी ओर एकसे अधिक आदमियोंकी समान भलाई हो वहां अपनी भलाई छोड़ना और दूसरोंकी भलाई करना ही कर्त्तव्य है।

(२) जहां एक ओर आत्महित और दूसरी ओर दूसरे किसी आदमीकी अधिक भलाई हो वहां भी दूसरेकी भलाई कर्त्तव्य है।

(३) जहां एक ओर तुम्हारी अधिक भलाई हो और दूसरी ओर दूसरोंकी थोड़ी थोड़ी भलाई हो वहां देखना कि मीजान किधर अधिक है। अगर तुम्हारी ओर अधिक हो तो अपनी भलाई करना; और दूसरी ओर अधिक हो तो दूसरोंकी भलाई करना।

शिष्य। (४) और जहां दोनों ओर समान हो?

गुरु। वहां दूसरेकी भलाई करना उचित है।

शिष्य। क्यों? जब सब जीव समान हैं तब अपना पराया तो समान है।

गुरु। अनुशीलनतत्त्वमें इसका उत्तर मिलता है। प्रीतिवृत्ति परानुरागिनी है, केवल आत्मानुरागिनी प्रीति प्रीति नहीं है। अपनी भलाई करनेमें प्रीतिका अनुशीलन, स्फुरण या चरितार्थता नहीं होती। दूसरेकी भलाई करनेमें होगी। इसलिये यहां दूसरेका पक्ष लेना योग्य है। क्योंकि उसमें परोपकार भी होता है और प्रीतिवृत्तिका अनुशीलन या चरितार्थता होनेसे तुम्हारी जो अपनी भलाई है वह भी होती है। सो ये हिसाब लगानेसे दूसरे पक्षमें ही अधिक भलाई होती है।

इसलिये आत्मप्रीति सामञ्जस्यके सम्बन्धमें मैंने जो पहला नियम कहा है। अर्थात् दूसरेकी बुराई होती हो वहां अपनी भलाई त्याग देने योग्य है उसके फैलाव और सीमाबन्धन स्वरूप हितवादियोंका यह नियम दूसरे नियमके तौरपर ग्रहण कर सकते हो।

और एक तीसरा नियम है। बहुधा मेरी अपनी भलाई जितनी मेरे हाथमें है दूसरेकी उतनी भलाई मेरे हाथमें नहीं है। उदाहरणसे समझो कि हम जितनी सुगमतासे अपनी मानसिक

उन्नति कर सकते हैं दूसरेको उतनी सुगमतासे नहीं कर सकते। यहां पर पहले अपनी मानसिक उन्नति करना ही कर्त्तव्य है। क्योंकि सिद्धिकी सम्भावना अधिक है। फिर कितने ही स्थानोंमें पहले अपनी भलाई कर लेनेमें दूसरेकी भलाई नहीं की जा सकती। यहां पर भी दूसरे पक्षकी अपेक्षा अपना पक्ष ही अवलम्बनीय है। अपनी मानसिक उन्नति न होनेसे मैं तुम्हारी मानसिक उन्नति नहीं कर सकूंगा; इसलिये यहां पहले अपनी भलाई करना योग्य है। अगर तुम पर और मुझ पर एक ही समय शत्रु धावा करे तो पहले अपनी रक्षा न करनेसे मैं तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकूंगा। वैद्य स्वयं ही बीमार हो तो पहले आप आराम न हो लेनेसे दूसरेको आराम नहीं कर सकता। इन सब स्थानोंमें भी अपनी ही भलाई पहले कर्त्तव्य है।

अब, तुमको जो समझाया था उसे फिर स्मरण करो।

प्रथम, अपने परायेमें अभेद ज्ञान ही सच्ची प्रीतिका अनुशीलन है।

द्वितीय, इससे आत्मप्रीतिके समुचित और सीमाबद्ध अनुशीलनका निषेध नहीं होता, क्योंकि मैं भी सब जीवोंके अन्तर्गत हूं।

तृतीय, वृत्तियोंके अनुशीलनका परम उद्देश्य सब वृत्तियोंको ईश्वरमुखी करना है। इसलिये जो ईश्वरोद्दिष्ट कर्म्म है वह अनुष्ठेय है। ऐसे कार्य्योंके करनेमें कभी अवस्था विशेषमें आत्महित और कभी अवस्था विशेषमें परहितको प्रधानता देनी पड़ती है।

इससे हिन्दूधर्मोक्त साम्य ज्ञानमें बाधा नहीं पड़ती। तुम जहां पर आत्मरक्षाके अधिकारी हो, दूसरा भी वहां पर वैसे ही आत्मरक्षाका अधिकारी है। जहां पर तुम दूसरेके लिये आत्मत्याग करनेको बाध्य हो, दूसरा भी वहां तुम्हारे लिये आत्मत्याग करनेको बाध्य है। यही ज्ञान साम्यज्ञान है। इसलिये मैंने जो सब फालतू बातें कहीं उनसे गीतोक्त साम्यज्ञानकी कुछ हानि नहीं होती।

शिष्य। मैंने जो प्रश्न किया था उसका कुछ समुचित उत्तर

नहीं हुआ। मैंने पूछा था कि हिन्दुओंकी पारमार्थिक प्रीतिके साथ जातीय उन्नतिका सामञ्जस्य कैसे हो सकता है?

गुरु। उत्तरका पहला सूत्र बन गया। अब क्रमशः उत्तर देता हूं।

तेईसवां अध्याय—स्वजन प्रीति।

——:o:——

गुरु। अब, हरबर्ट स्पेंसरकी उक्ति तुम्हें सुनायी है उसे स्मरण करो।

',Unless each duly cares for himself, his care for all others in ended by death, and if each thus dies, there remain no others to be cared for'

जगदीश्वरकी सृष्टिरक्षा जगदीश्वरका अभिप्राय है, यह अगर मान लिया जाय तब आत्मरक्षा ईश्वरोद्दिष्ट कर्म्म है, क्योंकि इसके बिना सृष्टि रक्षा नहीं होती। किन्तु यह बात केवल आत्म रक्षाके लिये ही नहीं है। जो लोग आत्मरक्षा करनेमें असमर्थ हैं और जिनकी रक्षाका भार तुमपर है उनकी रक्षा भी आत्म-रक्षाकी भांति जगत रक्षाके लिये उतनी ही जरूरी है।

शिष्य। आप बाल बच्चोंकी बात कहते हैं?

गुरु। पहले अपत्य प्रीतिकी बात ही कहता हूं। बालक अपने पालन पोषणमें समर्थ नहीं होते। दूसरा कोई यदि उनका पालन पोषण न करे तो वे नहीं बचेंगे। यदि सब बालक अपा-लित और अरक्षित होकर प्राणत्याग करने लगें तो जगत भी जीव शून्य हो जायगा। इस लिये आत्मरक्षा भी जैसा गुरुतर धर्म्म है, सन्तानादिका पालन भी वैसा ही गुरुतर धर्म्म है। आत्मर-क्षाकी तरह यह भी ईश्वरोद्दिष्ट कर्म्म है, इस लिये इसको भी निष्काम कर्म्ममें गिन सकते हैं। बल्कि आत्मरक्षाकी अपेक्षा भी

सन्तानादिका पालन पोषण गुरुतर धर्म्म है। क्योंकि अगर सारा संसार आत्मरक्षासे मुंह मोड़कर भी सन्तानादिकी रक्षामें नियुक्त और सफल होकर सन्तानादिको रख जा सकें तो सृष्टि रक्षा हो। किन्तु सब जीव सन्तानादिकी रक्षासे मुंह मोड़कर केवल आत्म रक्षामें नियुक्त हों तो सन्तानादिके अभावसे जीव सृष्टि विलुप्त हो जायगी। इसलिये आत्मरक्षाकी अपेक्षा सन्तानादिकी रक्षा बड़ा धर्म्म है।

इससे एक बड़ा तत्त्व निकलता है। सन्तानादिकी रक्षाके लिये अपना प्राण देना धर्म्म सङ्गत है। पहले जो बात कही थी वह अब साबित हुई।

ऐसा पशु पक्षी भी करते हैं। यह नहीं कह सकते कि धर्म्म होनेसे वे ऐसा करते हैं; सन्तान प्रीति स्वाभाविक वृत्ति है, इसीसे करते हैं। सन्तान स्नेह यदि स्वतंत्र स्वाभाविक वृत्ति हो तो उसके साधारण प्रीति वृत्तिके विरोधी होनेकी सम्भावना है। बहुधा ऐसा होता भी है। अक्सर देखते हैं कि कितने ही लोग सन्तान स्नेहके वशीभूत होकर दूसरेकी बुराई करने जाते हैं। जैसे जागतिक प्रीतिके साथ आत्मप्रीतिके विरोधकी सम्भावनाकी बात पहले कही थी, वैसे ही जागतिक प्रीतिसे सन्तान प्रीतिके विरोधकी शंका होती है।

केवल यही नहीं है; यह नहीं कह सकते कि यहाँ आत्मप्रीति आकर शामिल नहीं हो जाती। लड़का मेरा है इसलिये दूसरेकी चीज छीनकर उसे देनी होगी। लड़केकी भलाईसे मेरी भलाई है इसलिये चाहे जैसे बने लड़केकी भलाई करनी होगी। ऐसी बुद्धिके वशीभूत होकर बहुतेरे लोग काररवाई करते हैं।

इसलिये सन्तानप्रीतिके सामञ्जस्यके लिये बड़ी सावधानी दरकार है।

शिष्य। इस सामञ्जस्यका उपाय है?

गुरु। उपाय है हिन्दूधर्मका और प्रीतितत्त्वका; वही मूलसूत्र—सब जीवोंमें समदर्शन। अपत्यप्रीतिको उसी जागतिक प्रीतिमें रखकर अपत्यपालन और रक्षण ईश्वरोद्दिष्ट है, इसलिये

अनुष्ठेय कर्म्म समझकर "जगदीश्वरका काम करता हूं मेरी इससे कुछ बुराई भलाई नहीं है" यह सोचकर उस अनुष्ठेय कर्म्मको करना। तब यह अपत्यपालन और रक्षणधर्म्म निष्कामधर्म्म बन जायगा। उस दशामें तुम्हारा अनुष्ठेय कर्म्म भी मजेमें होगा और तुम स्वयं एक ओर शोक मोहादिसे और दूसरी ओर पाप और दुर्वासनासे बचोगे।

शिष्य। क्या आप अपत्यस्नेह-वृत्तिकी जड़ उखाड़कर उसके स्थानमें जागतिक प्रीति लानेको कहते हैं?

गुरु। मैं किसी वृत्तिकी जड़ उखाड़नेको नहीं कहता, यह बात बार बार कह चुका हूं। हां पाशव वृत्तियोंके सम्बन्धमें जो कहा है उसे स्मरण करो। पाशव वृत्तियां स्वयं बढ़ती हैं। जो स्वतः स्फूर्त्त हैं उनका दमन ही अनुशीलन है। अपत्यस्नेह परम रमणीय और पवित्र वृत्ति है। पाशव वृत्तियोंसे इसकी यही एकता है कि यह जैसा मनुष्यमें है वैसी पशुओंमें भी है। इसलिये अपत्यस्नेह भी स्वतः स्फूर्त्त यानी बढ़नेवाला है। बल्कि सब मानसिक वृत्तियोंकी अपेक्षा इसके बलको दुर्दमनीय कह सकते हैं। अब अपत्यप्रीति चाहे जितनी ही रमणीय और पवित्र क्यों न हो उसकी अनुचित स्फूर्त्ति असामञ्जस्यका कारण है। जो स्वतः स्फूर्त्त है उसका संयम न करनेसे अनुचित स्फूर्त्ति हो जाती है। इसके लिये उसका संयम दरकार है। उसका संयम न करनेसे जागतिक प्रीति और ईश्वरभक्ति उसकी धारामें बह जाती हैं। मैंने कहा है कि ईश्वरमें भक्ति और मनुष्य पर प्रीति ही धर्म्मका सार, अनुशीलनका मुख्य उद्देश्य, सुखका मूल कारण और मनुष्यत्वका चरम है इसलिये अपत्यस्नेहके अनुचित फैलावसे यह धर्म्म सुख और मनुष्यत्व नष्ट हो सकते हैं। लोग इसके अनुचित वशीभूत होकर ईश्वरको भूल जाते हैं; धर्म्माधर्म्म भूलकर सन्तानके सिवा और सब मनुष्योंको भूल जाते हैं। अपने अपत्यके सिवा और किसीके लिये कुछ नहीं करना चाहते। यही अनुचित स्फूर्त्ति है। अलबत्ते विशेष अवस्थामें इसका दमन न करके बढ़ाना ही उचित है। दूसरी पाशव वृत्तियोंसे इसका यही अन्तर है कि यह काम

आदि नीच वृत्तियोंकी तरह सदा और सर्वत्र स्वतः स्फूर्त्त नहीं होती। ऐसे नर पिशाच और और पिशाची भी देखी जाती हैं जिनकी यह परम रमणीय, पवित्र और सुखदायी स्वाभाविक वृत्ति लुप्त हो गयी है। बहुधा सामाजिक पाप बढ़नेसे इस वृत्तिका लोप होता है। धनके लोभसे पिशाच पिशाची पुत्र कन्या बेचती हैं; लोकलज्जाके भयसे कुल कलङ्किनियां उनको मार डालती हैं; कुल कलङ्कके भयसे कुलाभिमानी लड़कियोंको मार डालते हैं; कितने ही कामी कामातुर होकर सन्तानको त्याग देते हैं। इसलिये उस वृत्तिका अभाव या लोप भी बड़े भयङ्कर अधर्म्मका कारण है। जहां यह उचित रूपसे स्वतः स्फूर्त्त न हो आपसे आप न चमके—वहां अनुशीलन द्वारा इसको चमकाना चाहिये। उचित रूपसे चमकने और चरितार्थ होनेपर ईश्वरभक्तिके सिवा और कोई वृत्ति उसके समान सुख देनेवाली नहीं होती। सुख देनेमें अपत्य-प्रीति ईश्वर भक्तिके सिवा और सब वृत्तियोंसे श्रेष्ठ है।

अपत्यप्रीतिके विषयमें जो कहा वह दम्पति प्रीतिके सम्बन्धमें भी कहा जा सकता है। अर्थात् (१) स्त्रीके प्रतिपालन और रक्षणका भार तुम पर है। स्त्री स्वयं आत्मरक्षा और प्रतिपालनमें असमर्थ है। इसलिये वह तुम्हारा अनुष्ठेय कर्म्म है। स्त्रीके पालन और रक्षा बिना प्रजाके विलोप होनेकी सम्भावना है। इसलिये उसके पालन और रक्षाके लिये स्वामीको प्राण देना भी धर्म्म सङ्गत है।

(२) स्वामीका पालन और रक्षण स्त्रीसे होने योग्य नहीं है किन्तु उसकी सेवा और सुखसाधन उससे होने योग्य है। वही उसका धर्म्म है। दूसरे धर्म्म असम्पूर्ण हैं, हिन्दूधर्म्म सर्वश्रेष्ठ और सम्पूर्ण है; हिन्दूधर्म्ममें स्त्रीको सहधर्म्मिणी कहा है। यदि दम्पति पूर्णरूपसे पाशववृत्ति न बना लें तो यही स्त्रीका योग्य नाम है; वह स्वामीके धर्म्मकी सहाय है। इसलिये स्वामीकी सेवा, सुखसाधन और धर्म्मकी सहायता ही स्त्रीका धर्म्म है।

(३) जगत्की रक्षा और धर्म्माचरणके लिये दम्पति प्रीति है।

यह स्मरण रखकर इस प्रीतिका अनुशीलन करनेसे यह भी निष्काम धर्म बनायी जा सकती है और बनाना ही उचित है। नहीं तो यह निष्काम धर्म नहीं है।

शिष्य। मैं इस दम्पति प्रीतिको ही पाशव वृत्ति कहता हूं; अपत्य प्रीतिको पाशव वृत्ति कहनेके लिये उतना राजी नहीं हूं। क्योंकि पशुओंमें भी दाम्पत्य अनुराग है। वह अनुराग भी बड़ा जबरदस्त है।

गुरु। पशुओंमें दम्पति प्रीति नहीं है।

शिष्य मधु द्विरेफः कुसुमैक पात्रे
पपौ प्रियां स्वामनुवर्त्तमानः।
शृङ्गेण च स्पर्शनि मीलताक्षीं
मृगी मकण्डूयत कृष्णसारः॥
ददौ रसात् पङ्कज रेणुगन्धि
गजाय गण्डूष जलं करेणुः।
अर्द्धोप भुक्तेन विसेन जायां
सम्भावयामास रथाङ्ग नामा॥

गुरु। अहा! मगर असल बात तो छोड़ ही दो।

तं देशमारोपित पुष्पचापे
रति द्वितीये मदने प्रपन्ने॥ इत्यादि।

रति सहित मन्मथ वहां उपस्थित हैं इसीसे इस पाशव अनुरागका विकाश है। कविने स्वयं कह दिया है कि यह अनुराग कामसे उत्पन्न हुआ है। यह पशुओंमें भी है मनुष्योंमें भी है। इसको कामवृत्ति कहकर पहले बता चुका हूं। इसको दम्पतिप्रीति नहीं कहता। यह पाशव वृत्ति है स्वतः स्फूर्त्ति है और इसका दमन ही अनुशीलन है। काम स्वाभाविक है। दम्पति प्रीति संसर्गज है। कामसे उत्पन्न अनुराग क्षण भरके लिये है और दम्पतिप्रीति स्थायी है। अलबत्ते यह मानना पड़ता है कि कितने ही समय यह काम वृत्ति आकर दम्पतिप्रीतिका स्थान दखल कर लेती है। कितने ही समय उसका स्थान न ले ले तो उसके शामिल हो जाती है। उस दशामें जितनी इन्द्रियकी तृप्ति और वासनाकी

प्रबलता होती है उतनी ही दम्पति प्रीति भी पाशवताको प्राप्त होती है। इन अवस्थाओंमें दम्पति प्रीति बड़ी बलवती वृत्ति हो जाती है। उस समय उसका सामञ्जस्य दरकार है। जो जो नियम पहले बताये गये हैं वे ही सामञ्जस्यके उत्तम उपाय हैं।

शिष्य। मैं जहां तक समझता हूं, यह काम वृत्ति ही सृष्टि रक्षाका उपाय है। दम्पति प्रीतिके बिना इसके द्वारा ही जगतकी रक्षा हो सकती है तब इसीको निष्काम धर्म्म बना सकते है। ऐसी विचारप्रणाली नहीं देखता कि दम्पति प्रीति निष्काम धर्म्म बनाया जा सके।

गुरु। कामज वृत्ति भी निष्काम कर्म्मका कारण हो सकती है यह मैं मानता हूं किन्तु तुम्हारी असली बातमें ही भूल है। दम्पति प्रीतिके बिना केवल पाशव वृत्तिसे जगत रक्षा नहीं हो सकती।

शिष्य। पशु सृष्टि तो केवल उसीसे रक्षित होती है?

गुरु। पशुसृष्टि रक्षित हो सकती है परन्तु मनुष्य सृष्टिकी रक्षा नहीं हो सकती। क्योंकि पशुओंकी स्त्रियोंमें आत्मरक्षा और आत्मपालनकी शक्ति है। मनुष्य स्त्रीमें यह नहीं है। इसलिये मनुष्य जातिमें पुरुषद्वारा स्त्री जातिका पालन और रक्षण न होनेसे स्त्रीजातिके विलोपकी सम्भावना है।

शिष्य। मनुष्य जातिकी असभ्य अवस्था में?

गुरु। जैसी असभ्यावस्थामें मनुष्य पशुतुल्य है, अर्थात् विवाहप्रथा नहीं है, उस अवस्थामें स्त्रियां आत्मरक्षा और आत्मपालनमें समर्थ हैं या नहीं, यह विचारनेकी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि वैसी असभ्यावस्थासे धर्म्मका कुछ सम्बन्ध नहीं है। मनुष्य जितने दिन समाजमें शामिल नहीं होते उतने दिन उनके शारीरिकधर्म्मके सिवा और कोई धर्म्म नहींके बराबर है। धर्म्माचरणके लिये समाज दरकार है। समाजके बिना ज्ञानोन्नति नहीं होती; ज्ञानोन्नतिके बिना धर्म्माधर्म्मका ज्ञान असम्भव है। धर्म्मज्ञानके बिना भक्ति असम्भव है; और जहां दूसरे मनुष्यसे सम्बन्ध नहीं है वहां मनुष्य पर प्रीति आदि धर्म्म भी असम्भव है।

अर्थात् असभ्य अवस्थामें शारीरिक धर्म्मके सिवा और कोई धर्म्म सम्भव नहीं है।

धर्म्मके लिये समाज दरकार है। समाजगठनके लिये पहली आवश्यकता विवाहप्रथा है। विवाहप्रथाका स्थूल तात्पर्य यही है कि स्त्री पुरुष एक होकर सांसारिक कार्मोंको बांटकर करेंगे। जो जिसके योग्य है वही भाग उसके जिम्मे होता है। पुरुषका भाग पालन और रक्षण है। स्त्री पर दूसरा भार है वह पालन और रक्षणमें समर्थ होनेपर उससे अलग रहती है। पीढ़ी दरपीढ़ीसे अलग रहने और अभ्यास न होनेके कारण सामाजिक नारी आत्मपालन और रक्षणमें अयोग्य हो गयी हैं। इस दशामें पुरुषके स्त्रीका पालन और रक्षण न करनेसे अवश्य स्त्रीजातिका विलोप हो जायगा; और अगर यह कहो कि फिर अभ्यास करनेसे उनमें वह शक्ति आ सकती है तो इसका यह उत्तर है कि विवाहप्रथाका विलोप और समाज तथा धर्म्मके नष्ट हुए बिना उसकी सम्भावना नहीं है।

शिष्य। तो पाश्चात्य लोग जो स्त्री पुरुषमें समानता लाना चाहते हैं वह क्या सामाजिक विडम्बना मात्र है?

गुरु। क्या समानता सम्भव है? पुरुष क्या लड़का लड़की जन सकता है? या शिशुको छातीका दूध पिला सकता है? और क्या स्त्रियोंकी पलटन लेकर लड़ाई कर सकते हैं?

शिष्य। तब आपने शारीरिक वृत्तियोंके अनुशीलनकी जो बात पहले कही थी वह स्त्रियोंके लिये नहीं है?

गुरु। क्यों नहीं? जिसकी जो शक्ति है वह उसका अनुशीलन करे। स्त्रियोंमें लड़नेकी शक्ति हो तो उसका अनुशीलन करे; पुरुषमें छातीका दूध पि[illegible] [illegible] शक्ति हो तो वह उसका अनुशीलन करे

शिष्य। किन्तु देखनेमें आता है कि पाश्चात्य स्त्रियां घोड़ेपर चढ़ने बन्दूक चलाने आदि पुरुषोचित कार्य्योंमें विलक्षण दक्षता प्राप्त करती हैं।

गुरु। अभ्याससे उत्पन्न विपरीत उदाहरणोंकी कमी नहीं है। उनपर विचार न करके उन्हें दिल्लगीमें उड़ा देना ही अच्छा है।

और। यह तत्त्व जितना दरकार है उतना कहा गया। अब अपत्य प्रीति और दम्पतिप्रीतिके सम्बन्धमें कुछ विशेष जरूरी बातें दुहराकर यह प्रसङ्ग समाप्त करता हूं।

प्रथम, कहा है कि अपत्य प्रीति स्वतःस्फूर्त है। दम्पतिप्रीति स्वतःस्फूर्त नहीं है, किन्तु स्वतःस्फूर्त इन्द्रियतृप्तिकी लालसाके, इसके शामिल हो जानेसे यह भी स्वतःस्फूर्तकी भांति बलवती होती है। इन सब कारणोंसे ये दोनों ही वृत्तियां बड़ी जबरदस्त और तेज होती हैं। अपत्यप्रीतिके समान जबरदस्त और तेजवृत्ति मनुष्यमें और कोई है कि नहीं इसमें सन्देह है। नहीं कहनेसे अत्युक्ति न होगी।

दूसरे, ये दोनों ही वृत्तियां बड़ी रमणीय हैं। इनके तुल्य बल और किसी वृत्तिमें चाहे हो किन्तु ऐसी परम रमणीय वृत्तियां मनुष्यमें और कोई नहीं हैं। रमणीयतामें इन दोनों वृत्तियोंने सब मनुष्यवृत्तियोंको यहां तक हरा दिया है कि इन दोनोंने विशेषकर दम्पतिप्रीतिने सब जातियोंके काव्यसाहित्य पर अधिकार जमा रखा है। कह सकते हैं कि समूचे जगत्‌में यही काव्यकी एक मात्र सामग्री है।

तीसरे, साधारण मनुष्यके लिये इन दोनोंके समान सुख देनेवाली भी और कोई नहीं है। भक्ति और जागतिकप्रीतिका सुख उन्नतर और तीव्रतर है किन्तु वह अनुशीलनके बिना नहीं मिलता, वह अनुशीलन भी कठिन और ज्ञानपर निर्भर है। परन्तु अपत्यप्रीतिके सुखके लिये अनुशीलन दरकार नहीं है और दम्पतिप्रीतिके सुखमें थोड़ासा अनुशीलन दरकार होनेपर भी वह अनुशीलन बहुत सरल और सुखदायी है।

इन सब कारणोंसे ये दोनों वृत्तियां बहुधा मनुष्यके धर्ममें बड़ी भारी बाधा हो जाती हैं। ये परम रमणीय और बड़ी ही सुखद हैं इसलिये इनके असीम अनुशीलनमें मनुष्यकी बड़ी रुचि है। और इसका वेग दुर्द्दमनीय है इसलिये इनके अनुशीलनका फल इनकी सर्व्वग्रासी वृद्धि है। उस समय भक्ति प्रीति और सब धर्म्म इसकी धारामें बह जाते हैं। इसीसे सचराचर देखनेमें

आता है कि मनुष्य स्त्री पुत्रादिके स्नेहमें पड़कर और सब धर्म्म छोड़ देता है भारतवासियोंका यह कलङ्क बड़ा जबरदस्त है।

इसीसे जो लोग सन्यास धर्म्मावलम्बी हैं उनके लिये अपत्य प्रीति और दम्पतिप्रीति बड़ी घृणित हैं। वे स्त्री मात्रको ही घृणित समझते हैं। मैंने तुम्हें समझाया है कि अपत्यप्रीति और दम्पति-प्रीति उचित मात्रामें परम धर्म्म है। उनका त्यागना घोरतर अधर्म्म है। इसलिये तुम्हें बताना नहीं होगा कि सन्यास धर्म्मा-वलम्बियोंका यह आचरण बड़ा भारी पापाचरण है। और जाग-तिक प्रीतितत्त्व समझाते समय तुम्हें बताया है कि यह पारवारिक प्रीति जागतिक प्रीतिमें पहुंचनेकी पहली सीढ़ी है। जो लोग इस सीढ़ी पर पैर नहीं रखते वे जागतिक प्रीतिमें नहीं पहुंच सकते।

शिष्य। हजरत ईसा?

गुरु। हजरत ईसा या शाक्यसिंह (बुद्ध) की तरह जो लोग कर सकते हैं उनको लोग ईश्वरका अंश मानते हैं। यही प्रमाण है कि यह विधि ईसा या शाक्यसिंहकेसे मनुष्योंके सिवा और कोई नहीं तोड़ सकता और ईसा या शाक्यसिंह यदि गृही होकर जगत्के धर्म्म प्रवर्त्तक हो सकते तो उनकी धार्म्मिकता निसन्देह सम्पूर्ण-ताको प्राप्त होती।* आदर्श पुरुष श्रीकृष्ण गृही हैं। ईसा या शाक्यसिंह सन्यासी थे—आदर्श पुरुष नहीं। अपत्यप्रीति और दम्पतिप्रीतिके सिवा स्वजनप्रीतिके भीतर और भी कुछ है। (१) जो लोग अपत्य स्थानीय हैं वे भी अपत्यप्रीतिके भागी हैं। (२) जिनसे हमारा रक्तका सम्बन्ध है, जैसे भाई बहन इत्यादि, वे भी हमारी प्रीतिके पात्र हैं। संसर्गसे ही चाहे आत्मप्रीतिके फैलाव होसे हो उनपर प्रीति सचराचर होती है। (३) इसप्रकार प्रीतिका वि-स्तार होते रहनेसे कुटुम्बी आदि और अड़ोस पड़ोसी प्रीतिके पात्र होते हैं। यह बात प्रीतिके विस्तारका उल्लेख करते समय कहा

* इस ग्रन्थके लेखकने अपने "कृष्ण चरित्र" में इसकी विस्तृत आलोचना की है।

है। (४) ऐसे बहुतसे आदमियोंसे हमारा साथ हो जाता है जिनके हमारे स्वजनमें शामिल होने योग्य न होने पर भी उनके गुणसे मुग्ध होकर हम उन पर विशेष प्रीति करते हैं। यह मित्रप्रीति बहुधा बड़ी बलवती होती है।

ऐसी प्रीति भी अनुशीलनके योग्य और उत्तम धर्म्म है। सामञ्जस्यके साधारण नियमके सहारे इसका अनुशीलन करना।

चौबीसवां अध्याय।—स्वदेशप्रीति।

—:0:—

गुरु। अनुशीलनका उद्देश्य सब वृत्तियोंको स्फुरित और पूर्ण करके ईश्वरमुखी बनाना है। इसका उपाय कर्मोंके लिये ईश्वरोद्दिष्ट कर्म्म है। ईश्वर सब जीवोंमें है, इसलिये सारा संसार अपने समान प्रीतिका आधार होना चाहिये। जागतिक प्रीतिका यही मूल है। ईश्वरोद्दिष्ट कर्म्ममें यह मौलिकता देख रहे हो। सारे संसारको अपने समान क्यों प्यार करना होगा? इसलिये कि वह ईश्वरोद्दिष्ट कर्म्म है। अगर ऐसा काम हो जो ईश्वरोद्दिष्ट है किन्तु इस जागतिक प्रीतिका विरोधी है तब हमें क्या करना चाहिये? अगर दोनो पक्ष बनाये रखनेका सुबीता न हो तब कौनसा पक्ष लेना चाहिये?

शिष्य। वहां पर विचार करना चाहिये। विचारसे जिधर भारी मालूम हो उधर ही जाना चाहिये।

गुरु। अच्छा जो मैं कहता हूं उसे सुनकर विचार करो। दम्पतिप्रीति तत्त्व समझाते समय बताया है कि समाजके बाहर मनुष्यका केवल पशु जीवनमात्र है। समाजमें रहे बिना मनुष्यका धर्म्मजीवन नहीं हो सकता। यह कहना अत्युक्ति नहीं है कि समाजमें रहे बिना किसी तरहका मङ्गल नहीं है। समाज नष्ट होनेसे मनुष्यका धर्म्म नष्ट हो जाता है। और सब मनुष्योंका सब

प्रकारका मङ्गल नष्ट हो जाता है। तुम्हारे जैसे सुशिक्षितको शायद यह बात कष्ट करके समझानी नहीं पड़ेगी।

शिष्य। जरूरत नहीं है। वाचस्पतिजी अगर यहां होते तो इस विषयमें तर्क उठानेका भार मैं उन्हींको देता।

गुरु। जब यह बात है, जब समाज नष्ट होनेसे धर्म्म और मनुष्यका सब मङ्गल नष्ट होता है तब सबको छोड़कर पहले समाजकी रक्षा करनी होती है। इसीसे Harbert Spencer ने कहा है कि The life of the social organism must as an end, rank above the lives of its units," अर्थात् आत्मरक्षाकी अपेक्षा भी देशरक्षा श्रेष्ठ धर्म्म है। और इसीसे हजारों आदमियोंने अपने प्राण देकर भी देशरक्षाकी चेष्टा की है।

जिस कारणसे आत्मरक्षाकी अपेक्षा देशरक्षा श्रेष्ठ धर्म्म है, उसी कारणसे यह स्वजनरक्षाकी अपेक्षा भी श्रेष्ठ धर्म्म है। क्योंकि तुम्हारा परिवार समाजका एक मामूली अंशमात्र है, सम्पूर्णके लिये सबको अंशमात्रको त्यागना उचित है।

आत्मरक्षा और स्वजन रक्षाकी भांति स्वदेश रक्षा भी ईश्वरोद्दिष्ट कर्म्म है क्योंकि यह सारे संसारके हितका उपाय है। परस्परके आक्रमणसे सब विनष्ट या अधःपतित होकर किसी परधन लोलुप पापी जातिके अधिकारमें चले जानेसे पृथिवी परसे धर्म्म और उन्नति लुप्त हो जायगी। इसलिये सब जीवोंके हितके लिये स्वदेश रक्षण कर्त्तव्य है।

यदि स्वदेशरक्षा भी आत्मरक्षा और स्वजनरक्षाकी भांति ईश्वरोद्दिष्ट कर्म्म हो तो यह भी निष्काम कर्म्ममें शामिल हो सकता है। यह आत्मरक्षा और स्वजनरक्षाकी अपेक्षा आसानीसे निष्काम कर्म्म बनाया जा सकता है यह बात शायद तुम्हें कष्टसे समझानी नहीं पड़ेगी।

शिष्य। प्रश्नको उठाकर आपने कहा था—"विचार करो।" अब विचारसे क्या सिद्ध हुआ।

गुरु। विचारसे यही सिद्ध होता है कि सब जीवों पर समदृष्टि जैसे हमारा अनुष्ठेय कर्म्म है वैसेही आत्मरक्षा, स्वजनरक्षा

और स्वदेशरक्षा हमारा अनुष्ठेय कर्म्म है। दोनोंका ही अनुष्ठान करना होगा। जब दोनों परस्पर विरोधी हों तब देखना होगा कि किधरका वजन अधिक है। आत्मरक्षा, स्वजनरक्षा और स्वदेशरक्षा जगतरक्षाके लिये प्रयोजनीय हैं इसलिये उधरका ही पक्ष लेने योग्य है।

किन्तु वास्तवमें जागतिकप्रीतिसे आत्मप्रीति या स्वजनप्रीति या देशप्रीतिका कुछ विरोध नहीं है। जो आक्रमणकारी " उससे आत्मरक्षा करूंगा परन्तु उसके प्रति प्रीतिशून्य क्यों हूंगा? भूखे चोरका उदाहरण देकर यह बात तुम्हें समझा चुका हूं। और यह भी समझाया है कि जागतिकप्रीति और सर्वत्र समदर्शनका यह तात्पर्य्य नहीं है कि चुपचाप रहकर मार खानी होगी। इसका तात्पर्य्य यही है कि जब सभी मेरे समान हैं तब मैं कभी किसीकी बुराई नहीं करूंगा; किसी मनुष्यकी भी नहीं करूंगा और किसी समाजकी भी नहीं करूंगा। जैसे अपने समाजकी यथासाध्य भलाई करूंगा वैसे यथा साध्य दूसरे समाजकी भी करूंगा। यथासाध्यसे मतलब यह है कि किसी एक समाजकी बुराई करके दूसरे समाजकी भलाई नहीं करूंगा। दूसरे समाजकी बुराई करके अपने समाजकी भलाई नहीं करूंगा और मैं किसीको ऐसा भी नहीं करने दूंगा कि वह हमारे समाजकी बुराई करके अपने समाजकी भलाई करे। यही सच्चा समदर्शन है और यही जागतिकप्रीति तथा देशप्रीतिका सामञ्जस्य है। कई दिन पहले तुमने जो प्रश्न किया था आज उसका उत्तर पाया। शायद तुम्हारे मनमें युरोपियन Patriotism धर्म्मकी बात उठती थी, इससे तमने वह प्रश्न किया था। मैंने तुम्हें जो देशप्रीति समझायी वह युरोपियन Patriotism नहीं है। युरोपियन Patriotism एक घोरतर पैशाचिक पाप है। युरोपियन Patriotism धर्म्मका तात्पर्य्य यह है कि दूसरे समाजसे छीनकर अपने समाजके लिये लाओ। स्वदेशकी श्री बढ़ाओ किन्तु दूसरी सब जातियोंका सत्यानाश करके। इस दुष्ट Patriotism के प्रभावसे अमेरिकाके असली निवासि-

योंका पृथिवी परसे नाम मिट गया। भगवान भारतवर्षमें भारत-वासियोंके भाग्यमें ऐसा देशप्रेम न लिखें। अब कहो प्रीति तत्त्वका स्थूलतत्त्व क्या समझा?

शिष्य। समझा कि मनुष्यकी सब वृत्तियां अनुशीलित होकर जब ईश्वरानुवर्त्तिनी हों तभी मनकी वही अवस्था भक्ति है।

इस भक्तिका फल जागतिकप्रीति है। क्योंकि ईश्वर सब जीवोंमें हैं।

इस जागतिकप्रीतिसे आत्मप्रीति, स्वजनप्रीति और स्वदेशप्रीतिका असलमें कुछ विरोध नहीं है। आजकल हम लोग जिस विरोधका अनुभव करते हैं उसका कारण यह है कि इन सब वृत्तियोंको निष्कामतामें ले जानेके लिये हम चेष्टा नहीं करते। अर्थात् समुचित अनुशीलनके अभावसे ऐसा होता है।

यह भी समझा है कि आत्मरक्षासे स्वजनरक्षा गुरुतर धर्म्म है और स्वजनरक्षासे स्वदेशरक्षा गुरुतर धर्म्म है। जब ईश्वरमें भक्ति और सब लोगोंमें प्रीति एक ही है तब कह सकते हैं कि ईश्वरभक्तिके सिवा देशप्रीति सबसे बड़ा धर्म्म है।

गुरु। इससे भारतवासियोंकी सामाजिक और धर्म्म सम्बन्धी अवनतिका कारण समझ गये। भारतवासियोंकी ईश्वरमें भक्ति और सब लोगों पर समदृष्टि थी। किन्तु उन्होंने देशप्रीतिको इसी सार्व्वलौकिक प्रीतिमें डुबा दिया था। यह प्रीति वृत्तिका सामञ्जस्य युक्त अनुशीलन नहीं है। देशप्रीति और सार्व्वलौकिक प्रीति दोनोंका अनुशीलन और परस्पर सामञ्जस्य होना चाहिये। ऐसा होनेसे भविष्यत्‌में भारतवर्ष पृथिवीकी श्रेष्ठ जातिका आसन पा सकेगा।

शिष्य भारतवर्ष आपके कहे हुए अनुशीलनतत्त्वको समझने और उसके अनुसार कार्य्य करने पर पृथिवीकी सर्व्व श्रेष्ठ जातिका आसन ग्रहण करेगा, इसमें मुझे कुछ भी सन्देह नहीं है।

पचीसवां अध्याय—पशुप्रीति

गुरु। प्रीतितत्त्व सम्बन्धी और एक बात बाकी है। हिन्दू-धर्म्मके और सब धर्म्मोंसे श्रेष्ठ होनेके हजारों उदाहरण दिये जा सकते हैं। यह जो प्रीतितत्त्व तुम्हें समझाया है उसके भीतर ही कितने उदाहरण मिल सकते हैं। हिन्दुओंकी जो जागतिकप्रीति तुम्हें बतायी है उसमें इसका चमकीला उदाहरण पा गये हो। बेशक दूसरे धर्म्मोंमें भी सब लोगोंसे प्रीति करनेको कहते हैं परन्तु उसका कोई उपयुक्त मूल नहीं बता सकते (जड़ नहीं बता सकते जिसका अवलम्बन किया जा सके) हिन्दूधर्म्मकी यह जागतिकप्रीति जगत्‌तत्त्वमें दृढ़बद्ध मूल है। ईश्वरकी सर्वव्यापकतामें इसकी नींव है। हिन्दुओंकी दम्पतिप्रीतिकी समालोचनासे और एक इस श्रेष्ठताका प्रमाण मिलता है; हिन्दुओंकी दम्पतिप्रीति दूसरी जातियोंके लिये आदर्श है; हिन्दूधर्म्मकी विवाहप्रथा इसका कारण है। मैं यहां प्रीतितत्त्वसे उत्पन्न और प्रमाण देता हूं।

ईश्वर सब जीवोंमें हैं। इसलिये सब जीवों पर समदृष्टि रखनी होगी। किन्तु सब जीवके माने केवल मनुष्य ही नहीं है। सब जानदार उसके भीतर आ जाते हैं। इसलिये पशु भी मनुष्यकी प्रीतिके पात्र हैं। जैसे मनुष्य प्रीतिके पात्र हैं वैसेही पशु भी प्रीतिके पात्र हैं। ऐसा अभेद ज्ञान और किसी धर्म्ममें नहीं है; केवल हिन्दूधर्म्म और हिन्दूधर्म्मसे उत्पन्न बौद्ध धर्म्ममें है।

शिष्य। इसे बौद्धधर्म्मने हिन्दूधर्म्मसे पाया है या हिन्दू धर्म्मने बौद्ध धर्म्मसे पाया है?

गुरु। अर्थात् तुम पूछते हो कि लड़केने बापकी सम्पत्ति पायी है या बापने लड़केकी सम्पत्ति पायी है?

शिष्य। बाप कभी कभी लड़केकी सम्पत्ति पाता है।

गुरु। जो प्रकृतिकी उलटी गतिका समर्थन करता है, प्रमाणका भार उसी पर रहता है। बौद्धके पक्षमें क्या प्रमाण है?

शिष्य। कुछ नहीं जान पड़ता। हिन्दूपक्षमें क्या प्रमाण है?

गुरु। लड़का बापकी सम्पत्ति पाता है यही बात यथेष्ट है।

इसके सिवा बाजसनेय उपनिषद्‌की श्रुति उद्धृत करके प्रमाण दिया है कि सब जीवोंका साम्य प्राचीन वेदोक्त धर्म्म है।

शिष्य। मगर वेदमें तो अश्वमेधादिकी विधि है।

गुरु। वेद अगर किसी व्यक्तिविशेषका बनाया हुआ ग्रंथ होता तो उसपर परस्पर विरोधी बातें होनेका दोष लगा भी सकते थे। Thomas Acquinas से हर्बर्ट स्पेंसरका मेल मिलाना जितना उचित है, वेदके भिन्न भिन्न अंशोंमें परस्पर मिलान ढूंढ़ना भी उतना ही उचित है। हिंसाकी अपेक्षा अहिंसामें धर्म्मकी उन्नति है। अस्तु। हिन्दूधर्म्म विहित "पशुओंकी अहिंसा" परम रमणीय धर्म्म में है। यत्न पूर्व्वक इसका अनुशीलन करना। अहिन्दू यत्नपूर्व्वक इसका अनुशीलन करते हैं। खानेके लिये या खेतीके लिये या सवारीके लिये जो लोग भेड़ बकरी गाय बैल घोड़े आदिका पालन करते हैं, मैं केवल उन्हींकी बात नहीं कहता हूं। कुत्तेका मांस नहीं खाया जाता तो भी कितने प्रेमसे कृस्तानकुत्तोंको पोसते हैं। उसमें उनको कितना आनन्द मिलता है। बङ्गालमें कितनी ही स्त्रियां बिल्ली पोसकर अपत्यहीनताका दुःख मिटाती हैं। तोता या और कोई चिड़िया पालकर कौन नहींसुखी होता? मैंने एक बार एक अंग्रेजी पुस्तकमें पढ़ा था कि जिस मकानमें देखना कि पींजरेमें पक्षी है, समझ जाना कि उसमें कोई विज्ञमनुष्य है। पुस्तकका नाम याद नहीं मगर बात विज्ञताकी है।

पशुओंमें गौ हिन्दुओंकी विशेष प्रीतिके पात्र हैं। गाय बैलके समान हिन्दुओंका परम उपकारी और कोई नहीं है। गायका दूध हिन्दुओंके दूसरे जीवनके तुल्य है। हिन्दू मांस नहीं खाते। जो अन्न हम लोग खाते हैं उसमें पुष्टिकर Nitrogeneus पदार्थ बहुत कम होता है, गायका दूध न मिलनेसे वह अभाव पूरा नहीं होता। हम केवल गायका दूध पीकर ही नहीं पलते हैं; जिस अन्न पर हमारा जीवन है उसकी खेती बैलसे होती है— बैल ही हमारे अन्नदाता हैं। बैलके बल अन्न उपजाकर ही अलग नहीं हो जाते; वे उसे खलिहानसे घर और बाजार तक

पहुंचा देते हैं। भारतवर्षके खेतीका सब काम बैल ही करते हैं गाय बैल मरने पर भी दधीचिकी तरह हड्डी, सींग और चमड़ेसे उपकार करते हैं। मूर्ख लोग कहते हैं कि गाय बैल हिन्दुओंके देवता हैं; देवता नहीं हैं किन्तु देवताके समान उपकार करते हैं। वृष्टिदेवता इन्द्र हमारा जितना उपकार करते हैं, गाय बैल उससे अधिक उपकार करते हैं। यदि इन्द्र पूजने योग्य हैं तो गाय बैल भी पूजने योग्य हैं। यदि किसी कारणवश भारतवर्षसे अकस्मात् गोवंशका लोप हो जाय तो निःसन्देह हिन्दूजातिका भी लोप हो जायगा। यदि हिन्दू, मुसलमानोंकी देखादेखी गोमांस खाना सीखते तो या तो इतने दिनमें हिन्दूनामका लोप हो गया होता या हिन्दू बड़ी ही दुर्दशामें होते। हिन्दुओंके अहिंसा धर्मने ही इसमें हिन्दुओंकी रक्षा की है। अनुशीलनका फल प्रत्यक्ष देखो। पशुप्रीतिका अनुशीलन होनेसे ही हिन्दुओंका यह उपकार हुआ है।

शिष्य। बङ्गालके आधे किसान मुसलमान हैं।*

गुरु। हैं, [illegible] हिन्दू [illegible] उनके [illegible] कारण [illegible] के कारण, [illegible]। [illegible] गोमांस [illegible] हैं वे कङ्गाल और नराधम हैं।

शिष्य। [illegible] पाश्चात्य पण्डित कहते हैं, कि हिन्दू पुनर्जन्म मानते हैं; वे इस डरसे पशुओंपर दया करते हैं, कि शायद हमारे कोई पुरखा मरनेके बाद पशुयोनिमें आ गये हों।

गुरु। तुम पश्चिमी पण्डितों और पश्चिमी गधोंको एकमें शामिल कर रहे हो। अब तुम हिन्दू धर्मका कुछ कुछ मर्म जान गये हो, अब आवाज सुनकर गधोंको पहचान सकोगे।

* केवल बङ्गालके मुसलमान ही क्यों, शहरोंमें रहनेवालोंके सिवा भारतके प्रायः सभी मुसलमान गोमांस नहीं खाते। अनुवादक।

छब्बीसवां अध्याय—दया।

—:o:—

गुरु। भक्ति और प्रीतिके बाद दया है। आर्त्तपर जो विशेष प्रीति भाव है वही दया है। प्रीति जैसे भक्तिके अन्तर्गत है वैसे ही दया प्रीतिके अन्तर्गत है। जो अपनेको सब जीवोंमें और सब जीवोंको अपनेमें देखता है वह सब जीवोंमें दयामय है। इसलिये भक्तिका अनुशीलन ही, जैसे प्रीतिका अनुशीलन है, वैसे ही प्रीतिका अनुशीलन ही दयाका अनुशीलन है। भक्ति, प्रीति और दया हिन्दू धर्म्ममें एक सूतमें गुथी हुई हैं,—अलग नहीं की जा सकतीं। हिन्दू धर्म्मके ऐसा सर्वाङ्ग सम्पन्न धर्म्म और कोई नहीं दिखाई देता।

शिष्य। तौ भी दयाका अलग अनुशीलन हिन्दू धर्म्ममें बताया है।

गुरू। ढेरका ढेर, बार बार। दयाका अनुशीलन जिस तरह बार बार कहा है उस तरह और कुछ नहीं। जिसमें दया नहीं है वह हिन्दू ही नहीं हैं। किन्तु हिन्दूधर्म्मके इन सब उपदेशोंमें दया-शब्दका उतना व्यवहार नहीं हुआ है जितना दान-शब्दका व्यवहार हुआ है। दयाका अनुशीलन दानसें है, किन्तु दान-शब्दको लेकर एक बड़ी गड़बड़ पड़ गयी है। दान कहनेसे साधारणतः हम अन्न दान, वस्त्र दान, धन दान इत्यादिको ही समझते हैं। किन्तु दानका यह अर्थ बड़ा संकीर्ण है। दानका असली अर्थ त्याग है। त्याग और दान पर्याय वाची शब्द हैं। दयाके अनुशीलनके लिये कितने ही स्थानोंमें त्यागशब्दका भी व्यवहार हुआ है। इस त्यागका अर्थ केवल धन त्याग नहीं समझना चाहिये, सब प्रकारका त्याग—आत्म त्यागतक समझना होगा। ऐसा दान ही असली दयाका अनुशीलन मार्ग है। नहीं तो तुम्हारे पास बहुत धन है, उसमेंसे दो चार पैसे किसी गरीबको दे देनेसे उसपर दया करना नहीं कहलावेगा। क्योंकि जैसे तालाबसे एक चुल्लू जल निकालनेपर तालाब कुछ घट नहीं जाता, उसी तरह ऐसे दानसे तुम्हे भी कष्ट नहीं होता, किसी प्रकारका आत्मोत्सर्ग नहीं होगा।

जो ऐसा दान नही करता वह बड़ा भारी नराधम है, किन्तु जो करता है वह कोई बहादुर नहीं है। इसमें दया वृत्तिका अमली अनुशीलन ही है। आप कष्ट सहकर दूसरेका उपकार करना ही दान है।

शिष्य। जब स्वयं कष्ट भोगा तब वृत्तिके अनुशीलनका सुख क्या मिला? और आप कह चुके हैं, कि सुखका उपाय धर्म्म है।

गुरु। जो, वृत्तिका अनुशीलन करता है उसका वह कष्ट ही परम पवित्र सुख बन जाता है। श्रेष्ठ वृत्तियोंका भक्ति प्रीति और दयाका एक यह लक्षण है, कि इनके अनुशीलनसे उत्पन्न दुःख सुख बन जाता है। ये वृत्तियां सब दुःखोंको सुख बना देती है। सुखका उपाय धर्म्म ही है और वह जो कष्ट है, उसे भी जितने दिन अपने परायेका भेदज्ञान रहता है उतने ही दिन लोग कष्ट कहते हैं। वास्तवमें धर्म्मानुमोदित जो आत्म प्रीति है, उससे सामंजस्य रखता हुआ दूसरेके लिये आत्मत्याग ईश्वरानुमोदित है; इस लिये निष्काम होकर उसका अनुष्ठान करना। सामंजस्यकी विधि पहले बता चुका हूं।

अब, दानधर्म्म जिस भावसे साधारण हिन्दू शास्त्रकारों द्वारा स्थापित हुआ है, उसके विषयमें मुझे कुछ कहना है। हिन्दू धर्म्मके साधारण शास्त्रकार (सब नहीं) कहते हैं, कि दान करनेसे पुण्य होता है, इस लिये दान करो। यहां "पुण्य" स्वर्ग आदि काम्य वस्तु प्राप्त करनेका उपाय है। दान करनेसे अक्षय स्वर्ग मिलता है, इसलिये दान करो, यही साधारण हिन्दू शास्त्रकारोंकी व्यवस्था है। ऐसे दानको धर्म्म नहीं कह सकते स्वर्ग प्राप्तिके लिये धन दान करनेका अर्थ मूल्य देकर स्वर्गमें थोड़ी जमीन खरीदना, स्वर्गके लिये दादनी देना मात्र है। यह धर्म्म नहीं, बदलौअल या वाणिज्य है। ऐसे दानको धर्म्म कहना धर्म्मका अपमान करना है।

दान करना होगा मगर निष्काम होकर। दया वृत्तिके अनुशीलनके लिये दान करना; दया वृत्तिसे प्रीति वृत्तिका अनुशीलन है और प्रीति भक्तिका ही अनुशीलन है, इसलिये भक्ति, प्रीति और दयाके अनुशीलनके लिये दान करना। वृत्तिके अनुशीलन

और स्फूर्त्ति में धर्म्म है, इसलिये धर्म्मके लिये ही दान करना, पुण्य या स्वर्गके लिये नहीं। ईश्वर सब जीवोंमें है इसलिये सब जीवोंको दान करना : जो ईश्वरका है वह ईश्वरको देने योग्य है, ईश्वरको सर्व्वस्व दान ही मनुष्यत्वका चरम है। सब जीवोंमें और तुममें अभेद है इसलिये तुम्हारे सर्व्वस्वमें तुम्हारा और सब लोगोंका अधिकार है; जो सब लोगोंका है उससे सब लोगोंको दो। यही यथार्थ हिन्दू धर्म्मका अनुमोदित, गीतोक्त धर्म्मका अनुमोदित दान है। यही यथार्थ दान धर्म्म है। नहीं तो तुम्हारे पास बहुत है तुमने कुछ भिखमंगेको दे दिया तो वह दान नहीं है। आश्चर्य्यकी बात है, कि कितने ही ऐसे आदमी हैं जो वह भी नही देते।

शिष्य। क्या सबको दान देना होगा ? दानके पात्रापात्र नहीं हैं ? आकाशका सूर्य्य सर्व्वत्र किरणें बरसाता है परन्तु कितने ही प्रदेश उससे दग्ध हो जाते हैं। आकाशका मेघ सर्व्वत्र जल बरसाता है किन्तु उससे कितने ही स्थान बहजाते हैं। क्या विचार शून्य दानसे वैसी आशङ्का नहींहै ?

गुरु। दान दया वृत्तिके अनुशीलनके लिये है। जो दयाका पात्र है उसीको दान देना। जो आर्त्त है वही दयाका पात्र है दूसरा नहीं। इसलिये आर्त्तको ही दान देना दूसरेको नही। सब जीवों पर दया करनेके लिये कहनेसे यह नहीं साबित होता कि जिसे किसी प्रकारका दुःख नहीं है उसका दुःख दूर करनेके लिये आत्मोत्सर्ग करना होगा। अलबत्ते संसारमें ऐसा कोई आदमी नहीं दिखता जिसे किसी प्रकारका दुःख न हो। जिसे दरिद्रताका दुःख नहीं है उसे धन देना विधेय नहीं है, जिसे रोगका दुःख नहीं है उसकी चिकित्सा विधेय नहीं है। यह कह देना कर्त्तव्य है कि अनुचित दानसे अनेक समय पृथिवीका पाप बढ़ता है। बहुत लोगोंके अनुचित दान करनेसे ही, पृथिवी पर जो लोग शरीरकष्टसे दिन बिता सकते हैं वे भी भिखारी या धूर्त्त बन जाते हैं। अनुचित दानसे संसारमें आलस्य, धूर्त्तता और पाप कर्म्म बढ़ते हैं। उधर कितने ही यही सोचकर किसीको दान ही नहीं देते। उनकी समझमें सभी भिक्षुक आलस्यके कारण भिखारी या धूर्त्त हैं। ये

दोनों पक्ष बचाकर दान देना, जिन्होंने ज्ञानार्ज्जनी और कार्य्य-कारिणी वृत्तियोंका विधिपूर्वक अनुशीलन किया है उनके लिये यह कठिन नहीं है। क्योंकि वे विचारवान और दयालु हैं। इसलिये सब वृत्तियोंका अनुशीलन किये बिना मनुष्यकी कोई वृत्ति सम्पूर्ण नहीं होती।

गीताके सत्रहवें अध्यायमें दानके विषयमें जो, भगवदुक्ति है उसका तात्पर्य्य भी ऐसा ही है।

दातव्य मिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतं॥
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतं॥
अदेश काले य द्दान मपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत् कृतमवज्ञातं तत्तामस मुदाहृतं॥

अर्थात् "देना उचित है यह विचारकर जो दान दिया जाता है, जिससे प्रत्युपकार पानेकी सम्भावना नहीं है उसको जो दान दिया जाता है और देश काल तथा पात्रका विचारकर जो दान दिया जाता है वही सात्त्विक दान है। प्रत्युपकार पानेकी आशासे, फलके लिये और अप्रसन्न होकर जो दान दिया जाता है वह राजस दान है। देश काल और पात्रका विचार बिना किये, अनादर और अपमानसे जो दान दिया जाता है वह तामस दान है।"

शिष्य। दानके देश काल पात्रका विचार कैसे करना होगा, गीतामें इसका कुछ उपदेश है?

गुरु। गीतामें नहीं है किन्तु भाष्यकारोंने उसे बतलाया है। भाष्यकारोंका रहस्य देखो। देश काल और पात्रके विचारकी कोई विशेष व्याख्या दरकार नहीं है सभी काम देशकाल और पात्रको विचार करके किये जाते हैं। दान भी वैसाही है। देश काल और पात्रका विचार न कर दान देनेसे वह सात्त्विक नहीं रहता, तामसिक हो जाता है। इसका खुलासा समझनेके लिये

हिन्दू धर्मकी कोई विशेष विधि दरकार नहीं है। बङ्गाल दुर्भिक्षसे चौपट हो रहा है, मान लो कि उसी समय मंचेस्टरको कपड़ेकी कलें बन्द हैं और मजदूरोंको बड़ा कष्ट है, ऐसी दशामें मेरे पास कुछ देनेके लिये होनेपर दोनों जगह कुछ कुछ दे सकूं तो अच्छा है नहीं तो जितनी सामर्थ्य हो केवल बङ्गालको दूंगा। ऐसा न करके अगर मैं सब कुछ मंचेस्टर भेज दूं तो देशविचार नहीं होगा। क्योंकि मंचेस्टरको देनेके लिये बहुत आदमी हैं और बङ्गालको देनेके लिये बहुत कम हैं। काल विचार भी ऐसा ही है। आज तुमने प्राणकी परवा न करके जिसकी रक्षा की है, सम्भव है कि कल उसे तुम राजदण्ड देनेको लाचार हो, उस समय उसके प्राणदान मांगनेसे तुम नहीं दे सकते। पात्र विचार बहुत सहज है, प्रायः सभी कर सकते हैं। दुखियाको सभी देते हैं, धूर्त्तको कोई नहीं देना चाहता। इसलिये "देशेकालेच पात्रेच" की कोई सूक्ष्म व्याख्या दरकार नहीं है, जो उदार जागतिक महानीति सबके हृदयमें है यह उसीके अन्तर्गत है। अब भाष्यकारोंका कथन सुनो। "देशे" क्या? "पुण्ये कुरुक्षेत्रादौ" शङ्कराचार्य्य और श्रीधर स्वामी दोनों ऐसा कहते हैं। इसके बाद "काले" क्या? शङ्कर कहते हैं—"संक्रान्त्यादौ"; श्रीधर कहते हैं—"ग्रहणादौ," "पात्रे" क्या? शङ्कर कहते हैं—"षडङ्गविद्वेद पारग इत्यादौ आचार निष्ठाय" श्रीधर कहते हैं,—"पात्र भूताय तपः श्रतादि सम्पनाय ब्राह्मणाय।" हरे हरे! मैं अगर स्वदेशमें बैठकर संक्राति या ग्रहण छोड़कर और किसी समय अति दीन दुःखो पीड़ित दरिद्र एक डोम या चमारको कुछ दान दूं तो वह भगवदभिप्रेत दान नहीं होगा। इसी तरह कभी कभी भाष्यकारोंके विचारसे अति उन्नति, उदार और सार्व्वलौकिक हिन्दू धर्म्म अति सङ्कीर्ण और अनुदार उपधर्म्म बन गया है। यहां शङ्कराचार्य्य और श्रीधर स्वामीने जो कुछ कहा है वह भगवद्वाक्य नहीं है। किन्तु वह स्मृत शास्त्रमें है। भगवद्वाक्यको स्मृतिका अनुमोदित बनानेके लिये उस उदार धर्म्मको अनुदार और सङ्कीर्ण बना डाला। इन सब महाप्रतिभाशाली सर्व्व शास्त्र विद्‌ महामहोपाध्यायोंके आगे

हमारे जैसे क्षुद्र मनुष्य पर्वतके आगे बालूकणके समान हैं, किन्तु यह भी कहा है कि—

केवल शास्त्र माश्रित्य न कर्त्तव्यो विनिर्णयः।

युक्तिहीन विचारेतु धर्म्महानिः प्रजायते ॥*

बिना विचारे ऋषियोंके वाक्य इतने दिन शिरोधार्य्य करके हम इस गड़बड़ाध्याय, अधर्म्म और दुर्दशामें आ गिरे हैं। अब आगे बिना विचारे शिरोधार्य्य करना कर्त्तव्य नहीं है। अपनी बुद्धिके अनुसार सबको विचार करना उचित है। नहीं तो धीरे धीरे हमारी दशा चन्दन ढोनेवाली गधेकीसी हो जायगा। केवल बोझसे मरते रहेंगे चन्दनकी कुछ भी महिमा नहीं समझेंगे।

शिष्य। तो अब भाष्यकारोंके हाथसे हिन्दूधर्म्मका उद्धार करना हम लोगोंका बड़ा भारी कर्त्तव्य है।

गुरु। प्राचीन ऋषि और पण्डित लोग बड़े ही प्रतिभाशाली और महाज्ञानी थे। उनपर विशेष भक्ति रखना, कभी अमर्य्यादा या अनादर मत करना। मगर जहां यह समझमें आवे कि उन लोगोंकी उक्तियां ईश्वरके अभिप्रायके विरुद्ध हैं वहां उनको छोड़कर ईश्वरके अभिप्रायका ही अनुसरण करना।

सत्ताईसवां अध्याय—चित्तरञ्जिनीवृत्ति।

शिष्य। अब दूसरी कार्य्यकारिणी वृत्तियोंकी अनुशीलन पद्धति सुननेकी इच्छा है।

गुरु। वे सब विस्तृत बातें शिक्षातत्त्व अन्तर्गत हैं। मुझसे विशेष सुननेकी आवश्यकता नहीं है। शारीरिकवृत्ति या ज्ञाना-

---

*मनु १२ वें अध्यायके ११३ वें श्लोककी टीकामें कुल्लुक भट्टकृत बृहस्पति वचन।

ज्ञनी वृत्तिके विषयमें भी मैंने केवल साधारण अनुशीलन पद्धति बता दी है, वृत्ति विशेषके विषयमें कुछ अनुशीलन पद्धति नहीं सिखायी। किस प्रकार शरीरमें बल लाना होगा, किस प्रकार अस्त्र शिक्षा या घुड़सवारी करनी होगी, किस प्रकार मेधाको तेज बनाना होगा, या किसप्रकार बुद्धिको गणित शास्त्रके उपयोगी करना होगा, यह सब नहीं बताया है। क्योंकि यह सब शिक्षा तत्त्वके अन्तर्गत है। अनुशीलन तत्त्वका खुलासा समझनेके लिये केवल साधारण विधि जान लेना ही यथेष्ट है। मैंने शारीरिकी और ज्ञानार्ज्जनी वृत्तिके विषयमें उतनी ही बात बतायी है। कार्य्यकारिणी वृत्तिके विषयमें भी उतना ही बताना मेरा उद्देश्य है। किन्तु कार्य्यकारिणी वृत्तिके अनुशीलन सम्बन्धमें जो साधारण विधि है वह भक्ति तत्त्वके अन्तर्गत है। प्रीति भक्तिके अन्तर्गत है और दया प्रीतिके अन्तर्गत। समूचे धर्म्मका दारमदार इन तीन वृत्तियोंपर ही विशेष कर है। इसीसे मैंने भक्ति, प्रीति और दयाको विशेष प्रकारसे समझाया है। नहीं तो सब वृत्तियोंको गिनना या उनको अनुशीलन पद्धति ठीक करना मेरा उद्देश्य नहीं है और मेरी सामर्थ्य भी नहीं है। शारीरिक, ज्ञानार्ज्जनी या कार्य्यकारिणी वृत्तियोंके सम्बन्धमें मैं अपना वक्तव्य कह चुका हूं। यहां चित्तरञ्जिनी वृत्तिके सम्बन्धमें संक्षेपसे कुछ कहूंगा।

जगतके सब धर्म्मोंकी एक यह असम्पूर्णता है, कि उनमें चित्तरञ्जिनी वृत्तियोंके अनुशीलनका उपदेश विशेष रूपसे नहीं दिया गया है। मगर इससे कोई यह सिद्धान्त नहीं निकाल सकता कि प्राचीन धर्म्मवेत्ता लोग उसकी आवश्यकता नहीं जानते थे या उन वृत्तियोंके अनुशीलनका कोई उपाय नहीं बता गये। हिन्दूओंकी पूजाके पुष्प, चन्दन, माला, धूप, दीप, धूना, गुग्गुल, नाच, गीत, बाजे आदि सबका उद्देश्य भक्तिके अनुशीलनके साथ चित्तरञ्जिनी वृत्तियोंके अनुशीलनका सम्मिलन या इन सबके द्वारा भक्तिका उद्दीपन है। प्राचीन यूनानियोंके धर्म्ममें और मध्यकालके युरोपमें रोमन कृस्तानी धर्म्ममें उपासनाके साथ चित्तरञ्जिनी वृत्तियोंकी स्फूर्त्ति और परितृप्तिकी बड़ी भारी चेष्टा थी। आपिलीस या

राफेलका चित्र, माइकेल एंजिलो या फिदियसका भास्कर्य्य (महलादि बनानेकी विद्या) और जर्मनीके विख्यात सङ्गीतप्रणेताओंके संगीत उपासनाके सहाय हुए थे। चित्रकर भास्कर, स्थपति और सङ्गीतकारकोंकी सब विद्या धर्म्मके चरणोंमें न्योछावर कर दी जाती थी। भारतवर्षमें भी स्थापत्य, भास्कर्य्य, चित्रविद्या और सङ्गीत उपासनाके सहाय हैं।

शिष्य। तब जान पड़ता है कि प्रतिमागठन उपासनाके साथ ऐसी ही चित्तरञ्जिनी वृत्तिकी तृप्तिकी आकांक्षाका फल है।

गुरु। यह बात उचित जंचती है * किन्तु यह नहीं कह सकते कि प्रतिमागठनका और कोई मूल कारण नहीं है। प्रतिमा पूजाकी उत्पत्ति विचारनेका स्थान यह नहीं है। चित्तविद्या, भास्कर्य्य स्थापत्य और सङ्गीत चित्तरञ्जिनी वृत्तिको स्फूर्त्त और तृप्त करने-

---

* इस विषयमें पहले मैंने स्टेट्समैन पत्रके २८ सितम्बर सन १८८२ ईस्वीवाले अङ्कमें एक लेख लिखा था उसका कुछ अंश यों है—

"The true explanation consists in the ever true relations of the Subjective ideal to its objective Reality. Man is by instinct a poet and an artist. The passionate yearnings of the heart for the ideal in beauty, in power and in purity must find an expression in the world of the Real. Hence proceed all poetry and all art. Exactly in the same way the ideal of the Divine in man receives a form from him and they form an image. The existence of idols is as justifiable as that of the tragedy of Hamlet or that of Prometheus. The religious worship of idols is as justifiable as the intellectual worship of Hamlet or Prometheus. The homage we owe to the ideal of the Human realized in art is admiration. The homage we owe to the ideal of the Divine realized in Idolatry is worship."

Statesman, Sept 28, 1882.

वाले हैं; किन्तु काव्य ही चित्तरञ्जिनी वृत्तिके अनुशीलनका श्रेष्ठ उपाय है। यही काव्य ग्रीक और रोमक धर्मका सहाय है किन्तु हिन्दू धर्ममें ही काव्यकी विशेष सहायता ली गयी है। रामायण और महाभारतके समान और कोई काव्य ग्रन्थ नहीं है अथच यही इस समय हिन्दुओंके प्रधान धर्म ग्रन्थ हैं। विष्णु और भागवत पुराणमें ऐसा काव्य है जो अन्य देशोंमें अतुलनीय है। इसलिये यह बात नहीं है कि हिन्दू धर्ममें चित्तरञ्जिनीके अनुशीलनकी ओर कम ध्यान दिया गया था। हां जो पहले विधिवद्ध न होकर केवल लोकाचारमें हो या उसे अब धर्मका अंश कहकर विधिवद्ध करना होगा। और ज्ञानार्ज्जनी तथा कार्य्यकारिणी वृत्तियों अनुशीलन जैसा अवश्य कर्त्तव्य है, वैसा ही चित्तरञ्जिनी वृत्तिके अनुशीलनको भी धर्म शास्त्रसे विहित बताना होगा।

शिष्य। अर्थात् जैसे धर्मशास्त्रमें विधान है कि गुरुजनोंपर भक्ति करना, किसीसे डाह मत रखना, दान करना और शास्त्रोंका अध्ययन तथा ज्ञानका उपार्ज्जन करना वैसे ही आपकी व्याख्याके अनुसार चित्रविद्या, भास्कर्य्य, नाच, गान, वाद्य और काव्यके अनुशीलन करनेका विधान करना होगा?

गुरु। हां। नहीं तो मनुष्यकी धर्म्महानि होगी।

शिष्य। समझा नहीं।

गुरु। समझो। जगत्में क्या है?

शिष्य। जो है वही है।

गुरु। उसको क्या कहते हैं?

शिष्य। सत्।

गुरु। या सत्य। यह जगत तो जड़पिण्डका ढेर है। जगत्की वस्तुएं अनेक प्रकार की, भिन्न भिन्न प्रकृति और विधि गुणवाली हैं। इनमें कुछ एका देखते हो? वे सिलसिलेमें कुछ सिलसिला देखते हो?

शिष्य। देखता हूं।

गुरु। कैसे?

शिष्य। एक अनन्त अनिर्व्वचनीय शक्ति है जिसे स्पेंसरने

Inscrutable Powar in Nature कहा है, उसीसे सब जन्म लेते हैं, चलते हैं सदा उत्पन्न होते हैं और उसीमें सब मिल जाते हैं।

गुरु। उसको विश्वव्यापी चैतन्य कहो। उस चैतन्यरूपी शक्तिको चित् शक्ति कहो। अब बताओ, कि सत्में इस चित्के रहनेका क्या फल है?

शिष्य। फल तो अभी आप हीने बता दिया है। वह है जगत्का सिलसिला, अनिर्व्वचनीय एका है।

गुरु। खूब विचार कर कहो जीवके लिये इस अनिर्व्वचनीय शृङ्खलाका (सिलसिलेका) क्या फल है?

शिष्य। जीवनको उपयोगिता या जीवका सुख।

गुरु। उसका नाम रखो आनन्द। इस सच्चिदानन्दको जाननेसे ही जगत्को जान जाओगे। किन्तु कैसे जानोगे? एक एक करके विचार देखो, पहले सत् अर्थात् जो है उसका अस्तित्व कैसे जानोगे?

शिष्य। इस "सत्"का अर्थ सत्यका गुण भी तो है?

गुरु। हाँ। क्योंकि वे सब गुण भी हैं। वही सत्य है।

शिष्य। तो सत्यासत्यको प्रमाणसे जानना होगा।

गुरु। प्रमाण क्या है?

शिष्य। प्रत्यक्ष और अनुमान। दूसरे प्रमाणोंको मैं अनुमानमें गिनता हूं।

गुरु। ठीक है। किन्तु अनुमानकी बुनियादभी प्रत्यक्ष है। इसलिये सत्यज्ञान प्रत्यक्ष मूलक है। * प्रत्यक्ष ज्ञानेन्द्रियोंसे होता है। इसलिये यथार्थ प्रत्यक्षके लिये सब इन्द्रियोंकी अर्थात् कुछ शारीरिक वृत्तियोंकी सच्छन्दता ही यथेष्ट है। इसके बाद अनुमानके लिये सब ज्ञानार्ज्जनी वृत्तियोंकी उचित स्फूर्त्ति और पूर्णता आवश्यक है। ज्ञानार्ज्जनी वृत्तियोंमेंसे कुछका नाम हिन्दुओंके दर्शन शास्त्रमें मन रखा है और कुछका बुद्धिका। इस मन और

* सब ज्ञान प्रत्यक्ष मूलक नहीं है। यह बात भगवद्गीताकी टीकामें बतायी गयी है पुनरुक्ति अनावश्यक है।

बुद्धि भेद, किसी किसी युरोपियन दार्शनिक कृत ज्ञापिका और विचारिद्रा वृत्तियोंमें जो प्रभेद है, उसे कुछ कुछ मिलता है। अनुमानके लिये मन नामावली वृत्तियोंकी स्फूर्त्ति ही विशेष दरकार है। अच्छा अब इस सद्व्यापी चित्को कैसे जानोगे?

शिष्य। उसको भी अनुमानसे जानेंगे।

गुरु। यह ठीक नहीं है। जिसको बुद्धि या विचारकी वृत्ति कहा है। उसके अनुशीलनसे जानोगे। अर्थात् सत्को जानना होगा ज्ञानसे और चित्को ध्यानसे। इसके पश्चात् आनन्दको कैसे जानोगे?

शिष्य। यह अनुमानका विषय नहीं है, अनुभवका विषय है। हम आनन्द अनुमान नहीं करते अनुभव करते है। भोग करते हैं। इसलिये आनन्द ज्ञानार्ज्जनी वृत्तियोंको अप्राप्य है। इस कारण इसके लिये और तरहकी वृत्तियां चाहिये।

गुरु। वेही चित्तरञ्जिनी वृत्तियां हैं। उसके सम्मिलित अनुशीलनसे इस सच्चिदानन्दमय जगत् और जगन्मय सच्चिदानन्दका सम्पूर्ण स्वरूपानुभूति हो सकता है। इसके बिना धर्म्म अपूर्ण है। इसीसे कहता था कि चित्तरञ्जिनी वृत्तियोंका अनुशीलन न करनेसे धर्म्मको हानि होती हैं। हमारे सर्वाङ्ग सम्पन्न हिन्दू धर्म्मके इतिहासकी आलोचना करनेसे देखोगे कि इसमें जो कुछ परिवर्तन हुआ है वह सिर्फ इसको सर्वाङ्ग सम्पन्न करनेकी चेष्टाका फल है। इसका पहली अवस्था ऋग्वेदसंहिताके धर्म्मकी आलोचना करनेसे जाना जाती है; जो शक्तिमान या उपकारी या सुन्दर है उसीको उपासना यह सब वैदिक धर्म्म है। उसमें आनन्द भाग यथेष्ट था किन्तु सत् और चित्की उपासनाका, अर्थात् ज्ञान और ध्यानका अभाव था। इसलिये समयानुसार वह उपनिषदो द्वारा सुधारा गया। उपनिषदोंका धर्म्म चित्स्वरूप परब्रह्मकी उपासना है। उसमें ज्ञान और ध्यानका अभाव नहीं है। किन्तु आनन्दांशका अभाव है। ब्रह्मानन्द प्राप्ति ही उपनिषदोंका उद्देश्य है किन्तु चित्तरञ्जिनी वृत्तियोंके अनुशीलन और स्फूर्त्तिके लिये उस ज्ञान और ध्यान मय धर्म्ममें कोई व्यवस्था नहीं है। बौद्ध धर्म्ममें उपासना नहीं है।

बौद्ध लोग सत्को नहीं मानते थे। और उनके धर्म्ममें आनन्द नहीं था। इन तीन धर्म्मोंमेंसे एक भी सच्चिदानन्द प्रयासी हिन्दू जातिमें अधिक दिन नहीं टिका। इन तीन धर्म्मोंका सार भाग लेकर पौराणिक हिन्दू धर्म्म संगठित हुआ। उसमें सत्की उपासना, चित्तकी उपासना और आनन्दकी उपासना अधिकतासे है। विशेष आनन्द भाग विशेष रूपमें स्फूर्त्ति प्राप्त हुआ है। यही जातीय धर्म्म होनेके उपयुक्त है और इसी कारणसे सर्व्वाङ्ग सम्पन्न हिन्दूधर्म्म और किसी अधूरे विजातीय धर्म्मसे च्युत या वञ्चित नहीं हो सकता। आज कल जो लोग धर्म्म सुधारमें लगे हुए हैं उन्हें स्मरण रखना चाहिये कि ईश्वर जैसे सत् स्वरूप हैं वैसे ही आनन्दस्वरूप हैं; इसलिये चित्तरञ्जिनी वृत्तियोंके अनुशीलनकी विधि और उपाय न रहनेसे सुधारा हुआ धर्म्म कभी स्थायी न होगा।

शिष्य। किन्तु पौराणिक हिन्दू धर्म्ममें आनन्दका ठेलमठेला है और सामञ्जस्य नहीं है यह बात माननी पड़ेगी।

गुरु। अवश्य। हिन्दू धर्म्ममें बहुतसा कूड़ा कर्कट जमा हो गया है, झाड़ पोंछकर साफ करना होगा। जो आदमी हिन्दू धर्म्मका मर्म्म समझ सकेगा वह अनायास ही आवश्यक और अनावश्यक अंशको समझ सकेगा और त्याग सकेगा। ऐसा किये बिना हिन्दूधर्म्मकी उन्नति नहीं होगी। इस समय हमारा यही विवेच्य है कि ईश्वर अनन्त सौन्दर्य्यमय है वे यदि सगुण हो तो उनमें सभी गुण हैं; क्योंकि वे सर्व्वमय हैं और उनके सभी गुण अनन्त हैं अनन्तका गुण सान्त (ससीम) या परिमाण विशिष्ट नहीं हो सकता। इसलिये ईश्वर अनन्त सौन्दर्य्य विशिष्ट हैं। वे महत् शुचि, प्रेममय, विचित्र अथच एक सर्व्वाङ्गसम्पन्न और निर्व्विकार हैं। वे सभी गुण अपरिसीम हैं। इसलिये इन सब गुणोंका समवाय समूह जो सौन्दर्य्य है वह भी उनमें अनन्त है। जिन वृत्तियोंसे सौन्दर्य्यका अनुभव किया जाता है उनका पूरा अनुशीलन किये बिना उनको कैसे पावेंगे? इसलिये बुद्धि आदि ज्ञानार्ज्जनी वृत्ति-

योंका और भक्ति आदि कार्य्यकारिणी वृत्तियोंका अनुशीलन धर्मके लिये जितना दरकार है चित्तरञ्जिनी वृत्तियोंका अनुशीलन भी उतना ही दरकार है। उनके सौन्दर्य्यका समुचित अनुभव हुए बिना हमारे हृदयमें कभी उनपर समुचित प्रेम या भक्ति पैदा नहीं होगी। वर्त्तमान वैष्णवधर्म्ममें इसीसे कृष्णोपासनाके साथ कृष्णकी ब्रजलीलाका संयोग हुआ है।

शिष्य। उसका फल क्या अच्छा हुआ है?

गुरु। जिसने इस ब्रजलीलाका असली तात्पर्य्य समझा है और जिसका चित्त शुद्ध है उसके लिये इसका फल अच्छा हुआ है। जो अज्ञान है, इस ब्रजलीलाका असली अर्थ नहीं समझता, जिसका अपना चित्त कलुषित है उसके लिये इसका फल बुरा हुआ है। चित्त शुद्धि अर्थात् ज्ञानार्ज्जनी, कार्य्यकारिणी आदि वृत्तियोंके समुचित अनुशीलन बिना कोई वैष्णव नहीं हो सकता। यह वैष्णव धर्म्म अज्ञान या पापात्माके लिये नहीं है। जो लोग राधाकृष्ण को इन्द्रिय सुखमग्न समझते हैं वे वैष्णव नहीं पिशाच हैं।

अनेक लोगोंका विश्वास है कि रासलीला बड़ी अश्लील और घृणित काण्ड है। अब लोगोंने रासलीलाको एक घृणित काण्ड बना डाला है। किन्तु असलमें यह ईश्वरकी उपासना मात्र है. अनन्त सुन्दरके सौन्दर्य्यका विकाश और उपासना मात्र है; चित्त रञ्जिनी वृत्तियोंका परम अनुशीलन, चित्तरञ्जिनी वृत्तियोंको ईश्वरकी ओर ले जाना मात्र है। प्राचीन भारतमें स्त्रियोंके लिये ज्ञान मार्ग निषिद्ध था क्योंकि वेदादिका अध्ययन निषिद्ध था। स्त्रियोंके लिये कर्म्ममार्ग कष्टसाध्य है, किन्तु भक्तिमें उनका विशेष अधिकार है। भक्ति बताया है कि "परानुरक्तिरीश्वरे" है। अनुराग अनेक कारणोंसे उत्पन्न हो सकता है; किन्तु सौन्दर्य्यका मुग्धतासे उत्पन्न हुआ अनुराग सबसे बलवान है। इसलिये सुन्दरके सौन्दर्य्यका विकाश और उसकी आराधना ही, दूसरेके लिये हो चाहे न हो, स्त्री जातिकी जीवन सार्थकताका मुख्य उपाय है। यह तत्त्वात्मक रूपक ही रासलीला है। जड़ प्रकृतिका सारा सौन्दर्य्य उसमें विद्यमान है; शरद कालका पूर्ण चन्द्र, शरद

प्रवाह परिपूर्णाध्वाय सलिला यमुना और प्रस्फुटित कुसुम सुवासित कुञ्ज विहंगमकूजित वृन्दावन वनस्पती जड़ प्रकृतमें अनन्त सुन्दरका शरीर विकाश है। उसका सहाय विश्व विमोहिनी वंशी है। यों सब प्रकारके चित्तरञ्जनसे स्त्री जातिकी भक्ति जगने पर वे कृष्णानुरागिनी होकर कृष्णमें तन्मयता प्राप्त होती हैं, अपनेको ही कृष्ण समझने लगती हैं।

"कृष्णो निरुद्ध हृदया इद मूचुः परस्परम्।
कृष्णोऽहमेतल्ललितं व्रजा म्यालोक्यतां गतिम्॥
अन्या ब्रवीति कृष्णस्य ममगीतिर्निशाम्यताम्।
दुष्टकालिय। तिष्ठात्र कृष्णोऽहमिति चापरा॥
बाहुमा स्फोट्य कृष्णस्य लीला सर्व्व स्वमा ददे।
अन्या ब्रवीति भो गोपा निःशङ्कैः स्थीयतामिह॥
अलं वृष्टि भयेनात्रधृतो गोवर्द्धनोमया॥" इत्यादि,

जीवात्मा और परमात्माका जो अभेद ज्ञान है, ज्ञानका वही चिर उद्देश्य है। महा ज्ञानी भी सारा जीवन इसकी खोजमें बिता कर भी इसे नहीं पाते। किन्तु वे ज्ञानहीना गोप कन्याएं केवल जगदीश्वरके सौन्दर्य्यकी अनुराग्निी हो (अर्थात् मैं जिसको चित्तरञ्जिनी वृत्तिका अनुशीलन कहता हूं उसकी सर्व्वोच्च सीढ़ीपर पहुंच कर) उस अभेद ज्ञानको पाकर ईश्वरमें मिल गयीं। रास-लीला रूपकका यही स्थूल तात्पर्य्य है और आजकलका वैष्णव धर्म्म भी उसी पथका पथिक है। इसलिये मनुष्यत्वमें, मनुष्य जीवनमें और हिन्दू धर्म्ममें चित्तरञ्जिनी वृत्तियोंका कितना जोर है सो विचारो।

शिष्य। अब इन चित्तरञ्जिनी वृत्तियोंके अनुशीलनके सम्बन्धमें कुछ उपदेश दीजिये।

गुरु जागतिक सौन्दर्य्यमें चित्तको लगाना ही इसके अनुशीलनका प्रधान उपाय है। जगत् सौन्दर्य्यमय है। बाहरी प्रकृति भी सौन्दर्य्यमय है और भीतरी प्रकृति भी। बाहरी प्रकृतिका सौन्दर्य्य जल्दी चित्तको चुराता है। उसी आकर्षणके वशी होकर

सौन्दर्य्य ग्रहण करनेवाली वृत्तियोंका अनुशीलन करना होगा। वृत्तियां स्फुरित होते रहनेसे धीरे धीरे भीतरी प्रकृतिका सौन्दर्य्य अनुभव करनेमें समर्थ होनेसे जगदीश्वरके अनन्त सौन्दर्य्यका आभास पाती रहेंगी। सौन्दर्य्यग्राहिणी वृत्तियोंका यह एक स्वभाव है कि उनसे प्रीति, दया, भक्ति आदि श्रेष्ठकार्य्यकारिणी वृत्तियां स्फुरित और परिपुष्ट होती रहती हैं। अलबत्ते एक बातमें साव-धान रहना चाहिये। चित्तरञ्जिनी वृत्तियोंके अनुचित अनुशीलन और स्फूर्त्तिसे दूसरी कुछ कारिणी वृत्तियां दुर्ब्बल पड़ जाती हैं। इसीसे अनेक लोगोंका विश्वास है कि कवि लोग काव्यके सिवा दूसरे विषयमें निकम्मे होते हैं। इस बातकी सच्चाई इतनी ही दूरतक है कि जो लोग चित्तरञ्जिनी वृत्तियोंका अनुचित अनुशीलन करते हैं, दूसरी वृत्तियोंसे उसका सामञ्जस्य रखनेकी चेष्टा नहीं करते या यह सोचकर कि "मैं प्रतिभाशाली हूं, मुझे काव्य रचनाके सिवा और कुछ नहीं करना चाहिये" जो फूल बैठते हैं वेही निकम्मे हो जाते हैं। नहीं तो जो श्रेष्ठ कवि दूसरी वृत्तियोंको उचित रूपसे काममें लाकर सामञ्जस्य रखते हैं वे निकम्मे न बन कर वरञ्च सांसारिक कर्म्मोंमें बड़ी दक्षता दिखाते हैं। युरोपमें शेकस्पियर, मिल्टन, दान्ते, गेटे आदि श्रेष्ठ कवि सांसारिक कार्य्योंमें बड़े ही दक्ष थे। कालिदास, सुनते हैं कि काश्मीरके राजा हुए थे। लार्ड टेनिसनका कामकाजीपन प्रसिद्ध है। चार्लस्डिकेन्स आदिकी बात भी जानते ही हो।

शिष्य। क्या केवल नैसर्गिक सौन्दर्य्य पर चित्त स्थापन कर-नेसे ही चित्तरञ्जिनी वृत्तियोंकी उचित स्फूर्त्ति होगी?

गुरु। इस विषयमें मनुष्य ही मनुष्यका उत्तम सहाय है। चित्तरञ्जिनी वृत्तियोंके अनुशीलनमें विशेष सहायता देनेवाली विद्याएं मनुष्यों द्वारा निकली हैं। स्थापत्य, भास्कर्य्य, चित्र विद्या, सङ्गीत और नाच उस अनुशीलनके सहाय हैं। बाहरी सौन्दर्य्यका अनुभवशक्ति इन्हें बहुत कुछ चमकाती है। किन्तु काव्य ही इस विषयमें मनुष्यका प्रधान सहाय है। उसीसे चित्त विशुद्ध और भीतरी प्रकृतिका प्रेमी होता है। इसलिये कवि धर्म्मका एक

प्रधान सहाय है। विज्ञान या धर्म्मोपदेश मनुष्यत्वके लिये जैसा दरकारी है वैसाही काव्य भी है। जो तीनोंमेंसे एकको प्रधानता देना चाहते हैं उन्होंने मनुष्यत्व या धर्म्मका असली मर्म्म नहीं समझा है।

शिष्य। किन्तु कुकाव्य भी तो है?

गुरु। उस विषयमें विशेष सावधान रहना उचित है। जो लोग कुकाव्य रचकर दूसरोंका चित्त कलुषित करना चाहते हैं वे चोरोंके समान मनुष्य जातिके शत्रु हैं और उनको चोरोंकी तरह शारीरिक दण्ड देना चाहिये।

अट्ठाईसवां अध्याय—उपसंहार।

गुरु। अनुशीलन तत्व समाप्त किया। यह न समझना कि जो कहनेको था वह सब कह दिया है। सब बातें कहनेसे कभी समाप्त नहीं हो सकती। यह बात नहीं है कि सब शङ्काओंकी मीमांसा कर दी है क्योंकि वैसा करनेसे भी बात कभी समाप्त नहीं होगा। बहुत बातें अस्पष्ट या अधूरी हैं। और बहुत सी भूल भी हो सकती है यह स्वीकार करनेमें मुझे उज्र नहीं है। मैं यह भी आशा करता हूं कि मैंने जो कुछ कहा है वह सभी तुमने समझा है। अलबत्ते उसकी बार बार आलोचना करनेसे भविष्यतमें समझ सकोगे यह भरोसा करूंगा। हां यह आशा कर सकता हूं कि स्थूल मर्म्म समझ गये हो।

शिष्य। जो कुछ समझा है वह मैं आपसे कहता हूं, सुनिये।

१। मनुष्यमें कुछ शक्तियां हैं। आपने उनका नाम वृत्ति रखा था। उनके अनुशीलन, प्रस्फुरण और चरितार्थमें मनुष्यत्व है।

२। वही मनुष्यका धर्म्म है।

३। उस अनुशीलनकी सीमा वृत्तियोंका परस्पर सामञ्जस्य है।

४। वही सुख है।

५। इन सब वृत्तियोंका उपयुक्त अनुशीलन होनेसे ये सब ईश्वरमुखी होती हैं। ईश्वरमुखी होना ही उपयुक्त अनुशीलन है। वही अवस्था भक्ति है।

६। ईश्वर सब जीवोंमें है; इसलिये सब जीवोंपर प्रीति भक्तिके अन्तर्गत है और बहुत जरूरी अंश है। सब जीवों पर प्रीति हुए बिना ईश्वरभक्ति नहीं होती, मनुष्यत्व नहीं आता, धर्म्म नहीं होता।

७। आत्मप्रीति, स्वजनप्रीति, स्वदेशप्रीति, पशुप्रीति और दया इस प्रीतिके अन्तर्गत हैं। इनमेंसे मनुष्यकी अवस्था विचारकर स्वदेशप्रीतिको ही सर्वश्रेष्ठ धर्म्म कहना उचित है। ये ही सब स्थूल बातें हैं।

गुरु। अरे! शारीरिक वृत्ति, ज्ञानार्ज्जनी वृत्ति, कार्य्यकारिणी वृत्ति और चित्तरंजिनी वृत्तियोंका नाम तक भी तुमने नहीं लिया?

शिष्य। अनावश्यक है। अनुशीलन तत्त्वके स्थूल मर्म्ममें यह सब विभाग नहीं है। अब समझ गया हूं कि मुझे अनुशीलन तत्त्व समझनेके लिये आपने ये सब नाम बताये हैं।

गुरु। तब तुमने अनुशीलन तत्त्व समझा है। अब आशीर्वाद करता हूं कि तुम्हारी ईश्वर भक्ति दृढ़ हो। सब धर्म्मोंके ऊपर स्वदेशप्रीति है यह न भूलना।*

---

* अनुशीलन तत्त्वसे जाति भेद और श्रम जीवनका सम्बन्ध है यह इस ग्रन्थमें नहीं बताया। क्योंकि उसे श्रीमद्भगवद्गीताकी टीकामें स्वधर्म्म बताते समय समझाया है। ग्रन्थकी सम्पूर्णताके लिये 'घ' नामक क्रोड़पत्रमें वह अंश गीताकी टीकासे उद्धृत कर दिया है।

क्रोड़पत्र--क।

---:o:---

(मेरे लिखे हुये "धर्म्म जिज्ञासा" नामक प्रबन्धमे कुछ अंश उद्धृत।)

धर्म्म शब्दके आजकल व्यवहारमें आनेवाले कुछ भिन्न भिन्न अर्थ उनके अंगरेजी प्रतिशब्दों द्वारा पहले बताता हूं। तुम समझ कर देखो। प्रथम अंगरेजी जिसको Religion कहते हैं हम उसको धर्म्म कहते हैं। जैसे हिन्दू धर्म्म, बौद्ध धर्म्म, इसाई धर्म्म दूसरे अङ्गरेज जिसको Morality कहते हैं। हमलोग उसको भी धर्म्म कहते हैं। जैसे अमुक कार्य्य धर्म्म विरुद्ध है, "मानव धर्म्म शास्त्र", धर्म्मसूत्र इत्यादि। आजकल इसका एक और नाम प्रचलित हुआ है। वह है नीति। नये शिक्षित और कुछ कर सकें या न कर सकें "नीति विरुद्ध" शब्द झट कह दे सकते हैं। तीसरे धर्म्म शब्दसे Virtue समझा जाता है। Virtue धर्म्मात्मा मनुष्यके अभ्यस्त गुणका बोधक है। नीतिके वशवर्त्ती अभ्यासका वह फल है। इस अर्थसे हम लोग कहा करते हैं कि अमुक आदमी धार्म्मिक है और अमुक अधार्म्मिक। यहां अधर्म्मको अङ्गरेजीमें Vice कहते हैं। चौथे रिलीजन यानी नीतिके अनुमोदित कार्य्यको भी धर्म्म कहते हैं और उसके विपरीतको अधर्म्म। जैसे "दान परमधर्म्म" "अहिंसा परम धर्म्म" "गुरु निन्दा परम अधर्म्म" है। इसको बहुधा पाप पुण्य भी कहते हैं। अङ्गरेजीमें इस अधर्म्मका नाम "Sin" है और पुण्यका कोई एक शब्द नहीं है— "Good deed" या ऐसे ही शब्दोंसे उसका काम निकालते हैं। पांचवें धर्म्म शब्दसे गुण मालूम होता है। यथा—"चुम्बकका धर्म्म लौहाकर्षण है।" यहां इसके विपरीत जो अधर्म्म है उसको भी धर्म्म कहते हैं। जैसे—"परनिन्दा क्षुद्रोंका धर्म्म है।" इस अर्थमें मनुने स्वयं पाषण्ड धर्म्मकी" बात लिखी है;—

हिंस्रा हिंस्रे मृदुक्रूरे, धर्म्माधर्म्मा वृतानृते।
यदस्य सोऽदधात् सर्गे तत्तस्य स्वयमाविशत्॥

पुनश्च—"पाषण्डगण धर्म्मांश्च शास्त्रे ह्मस्मिन्नुक्तवान्। मनु॥
और छठा धर्म्म शब्द कभी कभी आचार या व्यवहारके लिये बरता जाता है। मनु इसो अर्थमें कहते हैं—

"देश धर्म्मान् जाति धर्म्मान् कुल धर्म्मांश्च शाश्वतान्।"

ये छः अर्थ लेकर इस देशके आदमी बड़ी गड़बड़ मचाया करते हैं। अभी एक अर्थमें धर्म्मशब्द व्यवहार करके क्षणभर बादही दूसरे अर्थमें व्यवहार करते हैं; इसका परिणाम यह होता है कि बुरे सिद्धान्तमें फसना पड़ता है इस अनियम प्रयोगके कारण धर्म्म-सम्बन्धमें किसी तत्त्वकी अच्छी मीमांसा नहीं होती यह गड़बड़ा-ध्याय आजका नहीं है। जिन ग्रन्थोंको हम लोग हिन्दू शास्त्र बताते हैं उनमें भी गड़बड़ाध्याय भयानक रूपसे है। मनु संहिताके पहले अध्यायके पहले छः श्लोक इसके खासे उदाहरण हैं। धर्म्म कभी रिलीजनके लिये, कभी नीतिके लिये; कभी अभ्यस्त धर्म्मा-त्मताके लिये और कभी पुण्यकर्म्मके लिये व्यवहृत होनेसे नीतिकी प्रकृति रिलीजनमें और रिलीजनकी प्रकृति नीतिमें अभ्यस्त गुणका लक्षण कर्म्ममें और कर्म्मका अभ्यासमें लगा देनेसे बड़ा ही गड़्डमड्ड हो गया है। उसका फल यह हुआ है कि धर्म्म (रिलीजन) उपधर्म्म संकुल, नीति भ्रान्त, अभ्यास कठिन और पुण्य दुःखजनक बन गया है। हिन्दू धर्म्म और हिन्दू नीतिकी वर्त्तमान अवनति और उस पर वर्त्तमान अश्रद्धाका एक बड़ा भारी कारण यह गड़-बड़ाध्याय है।

क्रोड़पत्र—ख।

—:o:—

गुरु। रिलीजन क्या है।

शिष्य। वह मालूम है?

गुरु। जरा कहो तो सही देखे क्या मालूम है?

शिष्य। अगर कहूं कि रिलीजन पारलौकिक बातों पर विश्वास है।

गुरु। प्राचीन यहूदी परलोकको नहीं मानते थे। तो क्या यहूदियोंका प्राचीन धर्म्म धर्म्म नहीं था ?

शिष्य। अगर कहूं कि देव देवियों पर विश्वास ?

गुरु। इसलाम, ईसाई, यहूद आदि धर्म्मोंमें देवी नहीं हैं। उनमें देव भी एक ही ईश्वर है। ये क्या धर्म्म नहीं हैं ?

शिष्य। ईश्वरमें विश्वास ही धर्म्म है।

गुरु। ऐसे अनेक परम रमणीय धर्म्म हैं जिनमें ईश्वर नहीं हैं। ऋग्वेदसंहिताके पुरानेसे पुराने मन्त्रोंकी आलोचना करनेसे विदित होता है कि उनके रचनाकालके आर्य्योंके देव देवी तो थे परन्तु ईश्वर नहीं थे। विश्वकर्म्मा, प्रजापति, ब्रह्म इत्यादि ईश्वरवाचक शब्द ऋग्वेदके प्राचीनतम मंत्रोंमें नहीं हैं—जो उनसे नये हैं उन्हींमें हैं, प्राचीन सांख्यलोग भी अनीश्वरवादी थे, अथच वे धर्म्महीन नहीं थे; क्योंकि वे कर्म्मफल मानते थे और और मुक्तियां निःश्रेय कामना करते थे। बौद्ध धर्म्म भी निरीश्वर है। तब ईश्वरवादको धर्म्मका लक्षण कैसे कहें ? देखो कुछ भी स्पष्ट नहीं हुआ।

गुरु। तब विदेशी तार्किकोंकी भाषाकी शरण लेनी पड़ी—अलौकिक चैतन्यमें विश्वास ही धर्म्म है।

गुरु। अर्थात् supernaturalism किन्तु देखो इसमें तुम कहां आ पड़े। चेतनतत्व वेत्ताओंके दलके सिवा वर्त्तमान वैज्ञानिकोंके मतसे अलौकिक चैतन्यका कुछ प्रमाण नहीं है। इसलिये धर्म्म भी नहीं है, धर्म्मका प्रयोजन भी नहीं है। याद रहे रिलीजनको धर्म्म कहता हूं।

शिष्य। अथच उस अर्थमें प्रत्यक्ष वैज्ञानिकोंमें भी धर्म्म है। यथा Religion of Humanity

गुरु। इसलिये अलौकिक चैतन्यमें विश्वास धर्म्म नहीं है।

शिष्य। अब आप ही बताइये कि धर्म्म किसे कहा जाय ?

गुरु। यह प्रश्न बहुत प्राचीन है। "अथातो धर्म्म जिज्ञासा" मीमांसा दर्शनका प्रथम सूत्र है। इस प्रश्नका उत्तर देना ही मीमांसा दर्शनका उद्देश्य है। सर्व्वत्र मानने योग्य उत्तर

आजतक नहीं मिला है। यह सम्भावना नहीं है कि मैं इसका सदुत्तर दे सकूंगा। तथापि पूर्व्व पण्डितोंका मत तुम्हें सुना सकता हूं। पहले मीमांसाकारका उत्तर सुनो। वे कहते हैं—"चोदना लक्षणो धर्म्मः।" चोदना क्रियाका प्रवर्त्तक वाक्य है। अगर इतना ही होता तो कहते कि यह बुरा नहीं जान पड़ता; किन्तु जब उसके ऊपर बात उठी कि "चोदना प्रवर्त्तकको वेद विधि रूपः" तब मुझे बड़ा सन्देह होता है कि तुम उसको धर्म्म मानोगे या नहीं।

शिष्य। कभी नहीं। तब तो जितने पृथक पृथक धर्म्म-ग्रंथ हैं उतने पृथक प्रकृतिके धर्म्म मानने पड़ेंगे। ईसाई कह सकते हैं कि बाइबिल विधि ही धर्म्म है; मुसलमान भी कुरानके विषयमें यही कहेंगे। धर्म्म पद्धति भिन्न हो' मगर क्या धर्म्म नामकी कोई साधारण सामग्री नहीं है? Religion है इसलिये Religion नामकी क्या कोई साधारण सामग्री नहीं है।

गुरु। यह एक सम्प्रदायका मत है। लोगाक्षि भास्कर इत्यादिने इस प्रकार कहा है कि "देव प्रतिपाद्य प्रयोजन वदर्थो-धर्म्मः।" इन सब बातोंका यह परिणाम हुआ है कि यागादि ही धर्म्म और सदाचार हो धर्म्म शब्दवाच्य हो गया है; जैसे महा-भारतमें है—

"श्रद्धा कर्म्म तपश्चैव सत्यमक्रोध एवच।
स्वेषु दारेषु सन्तोषः शौचं विद्या न सूयिता॥
आत्मज्ञानं तितिक्षा च धर्म्मः साधारणो नृप।"

कोई कहता है—"द्रव्य क्रिया गुणा दीनां धर्म्मत्वं" और कोई कहता है कि धर्म्म भाग्य विशेष है। तात्पर्य्य यह कि आर्य्योंका साधारण अभिप्राय यह है कि वेद या लोकाचार समस्त कार्य्य ही धर्म्म है, यथा विश्वामित्र कहते हैं—

"यमार्य्या क्रियमाणं हि शंसन्त्यागम वेदिनः।
स धर्म्मोयं विगर्हन्ति तमधर्म्मं प्रचक्षते॥"

किन्तु यह बात नहीं है कि हिन्दू शास्त्रमें भिन्न मत नहीं है। "द्विविद्ये वेदितव्ये इतिहस्म यद ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापराच"

इत्यादि श्रुतिमे सूचित होता है कि वैदिक ज्ञान और उसके अनुवर्ती यागादि निकृष्ट धर्म्म है, ब्रह्मज्ञान ही परम धर्म्म है। भगवद्गीताका स्थूल तात्पर्य्य ही कर्म्मात्मक वैदिकादि अनुष्ठानकी निकृष्टता और गीतोक्त धर्म्मका उत्कर्ष प्रतिपादन है। विशेषकर हिन्दू धर्म्मके भीतर एक परम रमणीय धर्म्म मिलता है जो इस मीमांसा और उससे निकले हुए हिन्दू धर्म्मवादका साधारणतः विरोधी है। जहां जहां यह धर्म्म देखता हूं (अर्थात् गीतामें, महाभारतमें अन्यत्र भागवतमें) उन सब स्थानोंमें देखता हूं कि श्रीकृष्ण ही इसके वक्ता हैं। इसलिये मैं हिन्दू शास्त्रमें इस उत्कृष्टतर धर्म्मको मैं श्रीकृष्णका प्रचार किया हुआ समझता हूं और कृष्णोक्त धर्म्म कहना चाहता हूं। महाभारतके कर्ण पर्व्वसे कुछ बात उद्धृत करके इसका उदाहरण देता हूं।

"बहुतेरे श्रुतिको धर्म्म प्रमाण मानते हैं। मैं इसपर दोष नहीं लगाता। किन्तु श्रुतिमें समस्त धर्म्मतत्त्व नहीं बताया है।

इसलिये अनुमानसे अनेक स्थानोंमें धर्म्म निर्दिष्ट करना पड़ता है। प्राणियोंकी उत्पत्तिके निमित्त ही धर्म्म निर्देश किया जाता है। अहिंसायुक्त कार्य्य करनेसे ही धर्म्मानुष्ठान होता है। हिंसकोंके हिंसा निवारणार्थ ही धर्म्मकी सृष्टि हुई है। वह प्राणियोंको धारण करता है इसीसे धर्म्म कहलाता है। इसलिये जिससे प्राणियोंकी रक्षा होती है वही धर्म्म है। यह कृष्णोक्त है। इसके बाद वन पर्व्वसे धर्म्म व्याधोक्त धर्म्म व्याख्या उद्धृत करता हूं।—" जो साधारणका बड़ा ही हितजनक है वही सत्य है। सत्य ही श्रेयलाभका अद्वितीय उपाय है। सत्यके प्रभावसे ही ज्ञान और हितसाधन होता है।" यहां धर्म्मके अर्थमें ही सत्य शब्द व्यवहृत होता है।

शिष्य। इस देशवालोंने धर्म्मकी जो व्याख्या की है वह नीतिकी या पुण्यकी व्याख्या है। रिलीजनकी व्याख्या कहां है।

गुरु। रिलीजन शब्दसे जिस विषयका बोध होता है उस विषयकी स्वतन्त्रता हमारे देशके लोगोंने कभी उपलब्धि नहीं

की। जिस विषयकी पूजा मेरे मनमें नहीं है उसका नामकरण मैं अपने परिचित शब्दसे क्यों कर सकता हूं।

शिष्य। ठीक समझमें नहीं आया।

गुरु। तो मेरे पास एक प्रबन्ध है उसमेंसे कुछ पढ़कर सुनाता हूं।

"For Religion, the ancient Hindu had no name, because his conception of it was so broad as to dispense with the necessity of a name. With other peoples, religion is only a part of life ; there are things religious, and there are things lay and secular. To the Hindu his whole life was religion. To other peoples, their relations to God and to the spiritual world are things sharply distinguished from their relations to man and to the temporal world. To the Hindu, his relations to God and his relations to man, his spiritual life and his temporal life, are incaple of being so distinguished. They from one compact and harmonious whole to separate which in to its Component parts is to break the entire fabric. All life to him was religion, and religion never received a name from him. because it never had for him an existance apart from all that had received a name. A department of thought which the people in whom it had its existence had thus failed to differentiate has necessarily mixed itself inextricably wiht every other department of thought. and this is what makes it so difficult at the present day to erect it into a separate entity,"*

*लेखक प्रणीत एक अंगरेजी प्रबन्धसे यह उद्धृत किया गया है, यह अभीतक प्रकाशित नहीं हुआ है। इसका अनुवाद यहां दिया जा सकता है परन्तु उसको हमारे कितने ही पाठक नहीं समझेंगे। जिनके लिये लिखता हूं वे न समझें तो लिखना वृथा है। इसलिये इसरुचि विरुद्ध कार्य्यको पाठक क्षमा करें। जो अंगरेजी नहीं जानते वे इसे छोड़ देंगे तो कुछ हानि नहीं होगी।

शिष्य। तब रिलीजन क्या है, इस विषयमें पाश्चात्य आचार्य्योंका ही मत सुनाइये।

गुरु। उसमें भी गड़बड़ है। पहले रिलीजन शब्दका यौगिक अर्थ देखा जाय। प्रचलित मत यह है कि re-ligere से यह शब्द बना है इसलिये इसका असली बन्धन है यह समाजका बन्धन है। किन्तु बड़े बड़ेपण्डितोंका यह मत नहीं है। रोमक पण्डितसिसिर (शाकिकिरो) कहते हैं कि यह ri-ligere से बना है। उसका अर्थ पुनराहरण, संग्रह और चिन्ता है मोक्षमूलर इत्यादि इसी मतके अनुयायी हैं। असली चाहे जो हो, यह देखा जाता है कि इस शब्दका आदि अर्थ अब व्यवहृत नहीं होता। जैसे आदमियोंकी धर्म्म बुद्धिको स्फूर्त्ति प्राप्त हुई है, इस शब्दका अर्थ भी स्फुरित और परिवर्त्तित हुआ है।

शिष्य। पुराने अर्थसे हमें कुछ मतलब नहीं है, अब धर्म्म अर्थात् रिलीजन किसको कहूं यही बताइये।

गुरु। केवल एक बात कह देता हूं। धर्म्म शब्दका यौगिक अर्थ बहुत कुछ religio शब्दके ऐसा है। धर्म्म =धृ+मन् अर्थ (ध्रियते लोको अनेन, धरति लोकंवा) है, इसीसे मैंने धर्म्मको Religio शब्दका असली प्रति शब्दमाना है।

शिष्य। अच्छी बात है—अब रिलीजनको आधुनिक व्याख्या कहिये।

गुरु। आधुनिक विद्वानोंमें जर्मन ही सर्व्वाग्रगण्य हैं। दुर्भाग्यवश मैं स्वयं जर्मन भाषा नहीं जानता। इसलिये पहले मोक्षमूलरकी पुस्तकसे जर्मनोंका मत सुनाऊंगा। अभी काण्टके मतकी पर्य्यालोचना करो।

According to kant, religion is morality. When we look upon all our moral duties as divine Commands that, he thinks constitutes religion, and we must not forget that Cant dose not consider that duties are moral duties because they rest on a divine command (that would be according to Kant merely revealed

Religion) On the contrary, he tells us that because we are directly conscious of them as duties therefore we look upon them as divine commands.'

उसके बाद फिक्‌टे। फिक्‌टेका मत है—"Religion is knowledge, it gives to a man a clear insight into himself, answers the highest questions, and thus imparts to us a complete harmony with ourselves, and a thorough, sanctification to our mine" साख्यादिका भी प्रायः यही मत है। केवल शब्द प्रोग भिन्न प्रकार है। उसके बाद स्लियेर मेकर हैं। उनका मत है—Religion consists in our consciousness of absolute dependence on something which though it petermins us we cannot determine in our turn उनकी दि ल्लगीकरकेही गल कहते हैं Religeon is or ought to be perfect freedom; for it is neither more or less than the divine spirit becoming conscious of himself through the finite spirit.

यह मत कुछ कुछ वेदान्तका अनुगामी है।

शिष्य। चाहे जिसका अनुगामी हो, इन चारोंमेंसे एक भी आख्या श्रद्धा योग्य तो नहीं मालूम हुई। पण्डित मोक्षमूलरका खास मत क्या है ?

गुरु। वे कहते हैं—"Religion is a subjective faculty for the apprehension of the infinite.

शिष्य। faculty ! हरे ! हरे ! रिलीजन तो समझने भी आ जाता है faculty कैसे समझगा ? उसके अस्तित्वका क्या प्रमाण है ?

गुरु। अब जर्मनोंकी बात छोड़ कर दो एक अंगरेजोंकी व्याख्या मैं स्वयं ग्रहण करके सुनाता हूं। टेलर साहब कहते है कि जहां "Spiritual Beings" सम्बन्धमें विश्वास है वहीं रिलीजन है। यहां Spiritual Beings का अर्थ केवल भूत प्रेत नहीं है। अलौकिक चैतन्यसे भी अभिप्राय है; देव देवी और ईश्वर भी इसके अन्तार्गत हैं। इसलिये तुम्हारे वाक्यसे इनका

शिष्य। यह ज्ञान तो प्रत्यक्षाधीन है।

गुरु। सभी प्रत्यक्षज्ञान प्रमाणाधीन है, भ्रम ज्ञान प्रमाणाधीन नहीं। मार्टिनोकी विवेचनामें रिलीजन भ्रमज्ञान मात्र है अब जान स्टुअर्ट मिल की व्याख्या सुनो।

शिष्य। वे तो नीतिमात्र वादी थे, धर्म्मके तो विरोधी थे।

गुरु। अन्तिम अवस्थाकी रचना पढ़नेसे ऐसा नहीं मालूम होता। अलबत्ते अनेक स्थानोंमें दुविधा है। जो हो उनकी व्याख्या उस श्रेणीके धर्म्म सम्बन्धमें खूब घटती है।

वे कहते हैं "The essence of Religion is the strong and earnest direction of the emotions and desires towards an ideal object recognised as of the highest excellence and is rightfully Paramount over all selfish objects of desire."

शिष्य। यह तो बड़ी अच्छी बात है।

गुरु। बुरी नहीं है। अब आचार्य्य सीलीकी बात सुनो। आधुनिक धर्म्मतत्त्व व्याख्याकारोंमें वे एक श्रेष्ठ पुरुष हैं। उनके बनाये Ecce Homo और Natural Religion ग्रन्थोंने बहुतेरोंको मुग्ध किया है। इस विषयमें उनकी एक उक्ति पाठकोंके सामने रखी जा चुकी है।* The Substance of Religion is Culture;" किन्तु एक दल आदमियोंके मतकी आलोचना करते हुए इस उक्तिसे उन लोगोंका मत प्रस्फुटित किया है यह ठीक उनका अपना मत नहीं है। उनका अपना मत बड़ा सर्व्वव्यापी है उस मतसे रिलीजन "habitual and permanent admiration" है। वह व्याख्या सविस्तर सुनाता हूं।

The words Religion and worship are commonly and conveniently appropraited to the feelings with which we regard God But those feelings love, awe, admiration which together make up worship are felt in various combination for human beings and even for inanimate objec-

* देवी चौधरानीमें जिसका हिन्दी अनुवाद भी हो चुका है।

cts It is not exclusively. but only per excellence that religion is directed towards God when feelings of admiration are very strong and at the sametime serious and permanent they exprees; themselves in recurring acts and hence arises ritual liturgy and whatever the multitude indentifies with religion may exist in its; elementary—state of Religion is what may be described as *habitual and permanent admiration.*

शिष्य। यह व्याख्या बड़ी ही सुन्दर है और मैं देखता हूं कि मिलने जो बात कही है उससे यह मिलती है। यह "habitual and permanent admiration" जो मानसिक भाव है उसीका फल strong and earnest direction of the emotion and desires towards an ideal object recoguised as of the highest excellence,

गुरु। यह भाव धर्म्मका एक अङ्गमात्र है।

जो हो पण्डितोंके पाण्डित्यसे तुमको अधिक त्यक्त न करके अगस्त कोम्तकी धर्म्म व्याख्या सुनाकर समाप्त करूंगा। इसमें विशेष ध्यान देना जरूरी है। क्योंकि कोम्त स्वयं एक धर्म्मके सृष्टिकर्त्ता हैं और इस व्याख्या पर नीव डालकर ही उस धर्म्मकी सृष्टि की है वे कहते हैं—"Religion in itself expresses the state of perfect unity which is the distinctive mark of mans existence both as an individual and in society, when all the constituent parts of his nature moral and physical are made habitually to converge towards one common purpose" अर्थात् Religion consists in regulating one's individual nature, and forms the rallying point for all separate individuals."

जितनी व्याख्याएं तुमको सुनायीं उन सबमेंसे यह उत्कृष्ट जान पड़ती है। और अगर यह व्याख्या ठीक हो तो हिन्दू धर्म्म सब धर्म्मोंमें श्रेष्ठ है।

शिष्य। पहले धर्म्म क्या है यह समझ लूं, सब पीछे समझा

जायगा कि हिन्दू धर्म्म क्या है। उन सब पण्डितोंकी धर्म्म व्याख्या सुनकर मुझे अन्धेका हाथी देखनेवाला किस्सा याद पड़ गया।

गुरु। सत्य है। ऐसा कौन मनुष्य पैदा हुआ है जिसने धर्म्मकी पूर्ण प्रकृतिको हृदयङ्गम कर लिया हो? जैसे समग्र विश्वसंसारको कोई आदमी आंखोंसे नहीं देख सकता वैसेही समग्र धर्म्मका ध्यान कोई आदमी नहीं कर सकता। औरोंकी बात तो दूर रहे, शाक्यसिंह, ईसामसीह, मुहम्मद और चैतन्य भी धर्म्मकी समग्र प्रकृति जान सके थे यह मैं नहीं स्वीकार कर सकता। उन लोगोंने दूसरोंकी अपेक्षा अधिक देखा हो, तथापि सब नहीं देख सके। यदि कोई मनुष्य देह धारण करके धर्म्मका सम्पूर्ण अवयव हृदयङ्गम करते हुए मनुष्यलोकमें प्रचारित करनेमें समर्थ हुआ है तो वह श्रीमद्भगवद्गीताका वक्ता हैं। भगवद्गीताकी उक्ति ईश्वरावतार श्री कृष्णकी उक्ति है या किसी मनुष्यकी रची हुई है यह मैं नहीं जानता। किन्तु यदि कहीं भी धर्म्मकी सम्पूर्ण प्रकृति व्यक्त और परिस्फुट हुई है तो श्रीमद्भगवद्गीतामें।

क्रोड़पत्र—घ।

—:○:—

If as the sequence of a malady contracted in pursuit of illegitimate gratification an attack of iritis injures vision, the mischief is to be counted among those entailed by immoral conduct: but if regardless of protesting sensations, the eyes are used in study too soon after ophthalmia and there follows blindness for years or for life, entailling not only personal unhappiness but a burden on others moralists are silent. The broken leg which a drunkard's accident causes, counts among those miseries brought on self and family by intemperance which form the gronnd for reprobating

it, but if anxiety to fulfil duties prompts the continued use of a sprained knee in spite of the pain and brings on a chronic lameness involving lack of exercise, consequent illhealth, inefficiency, anexiety and unhapiness, it is suppsed that ethics has no verdict to give in the matter. A student who is plucked because he has spent in amusement the time and money that should have gone in study, is blamed for thus making parents unhappy and preparing for himself a miserable future ; but another who thinking exclusivly of claims on him reads night after night with hot or aching head and breaking down cannot take his degree but returns home shattered in health and unable to support himself is named with pity only as not subject to any moral judgment, or rather the moral Judgment, passed is wholly favourable.

Thus recognizing the evics caused by some kinds of conduct only men at large and moralists as exponents of their beliefs, ignore the suffering and daeth darly caused around them by disregard of that guidance which has established itself in the course of evolution. Led by the tacit assumption common to Pagan stoics and Ohristian asceties that we are so diabolically organized that pleasures are infurious and pains beneficial people on all sides yield examples to lives blasted by persisting in actions against which their sensations reble. Here is on who, drenched to the skin and sitting in a cold wind poohpoohs his shiverings and gets rheumatic fever with subsequent heart-disease, which makes worthless the short life remaining to him. Here is another who, disregarding painfull feellings illness, and establishes disordered health that lasts for the rest of his days, and makes him usless to

himself and other. Now the account is of a youth who persisting in gymnastic feasts in spite of scarcely bearable staining bursts a blood vessel , and long laid on the shelf, is permanently damaged ; while now it is of a man in middle life who pushing muscular effort to painful excess suddenly brings on hernia. In this familly is a case of aphasia, spreading paralysis, and death, cansed by eating too little and doing too much in that, softening of the brain has been broght on by ceaseless mental efforts against which the feelings hourey protested ; and in others, less serious brain-affe-ctions have been contracted bv over-study continued regardless of discomfort aud the craving for fresh air and exercise. * Even without accumulating special examples the truth is forced on us by the visible traits of classes. The care-worn man of business too long at his office, the cadaverous barrister pouring half the night over his briefs, the feeble factory-hands and unhealthy feamstresses passing long hours in bad air, the anoe-mic, flat -chested school girls bending over many lesso-ns and forbidden boisterous play no less than she-ffield grinders who die of suffocating dust and peasa-nts crippiled with heumatism due to exposure, show us the widespread miseries caused by persevering in actions repugnant to the sensations and neglecting actious which the sensations prompt. Nay the evi-dence is still more extensive and csuspicuous. What are the puny malfoimed children seen in povertys-tricken districts, but children whose appetites for food and desires for warmth have not been adequatly satisfied ? What are populations stunted in growth and permaturely aged, such as parts of Frane show us, but populatious injured by work in excess and

food in defect; the one implying positive pain, the other negative pain, the other negative pain? What is the implication of that greater morality which occurs among people who are weakened by privations, unless it is that bodily miserises conduct to fatal illnesses? Or once more, what must we infer from the frightful amount of disease and death suffered armies in the field fed no scanty and bad provisions, lying an damp ground, exposed to extremes of heat and cold, inabequately sheltered from rain and subject to exhausting efforts; unless it be the terrible mischiefs caused by continuously subjecting the body to treatment which the feelings protest against?

It matters not to the argument whether the actions entailling such effects are voluntary or involuntary. It matters not from the biological point or view, whether the motives prompting them are high or low. The vital functions accept no apologies on the ground that neglect of them was unavoidable, or that the reason-for neglect was noble. The direct and indictr sufferings caused by non-conformity and cannot be omitted in any rationae estimate of conduct if the purpose of ethical inquiry is to establish rules of right-living; and if the rules of right-living are those of which the total results, individual and general, direct and indirect, are most conducive to human happiness then it is absurd to ignore the immediate results,—and recognize only the remote results Herbert Spencer—Data of Ethics, pp.92-95.

मनुष्यत्व, जातिभेद और श्रमजीवनका सम्बन्ध।

"वृत्तिके सञ्चालनसे हम लोग क्या करते हैं? या तो कुछ कर्म्म करते हैं या कुछ जानते हैं। कर्म्म और ज्ञानके सिवा मनुष्यके जीवनमें और कोई फल नहीं है; *

इसलिये ज्ञान और कर्म्म मनुष्यका स्वधर्म्म है। अगर सब मनुष्य सब वृत्तियोंका अनुशीलनविहित रूपसे करते तो ज्ञान और कर्म्म दोनों ही सब मनुष्योंका स्वधर्म्म होते। किन्तु मनुष्य समाजकी अपरिणत अवस्थामें सचराचर वैसा नहीं होता। कोई केवल ज्ञानको ही प्रधानतः स्वधर्म्म बना लेता है और कोई कर्म्मको ही प्रधानतः स्वधर्म्म समझ लेता है।

ज्ञानका चरमोद्देश्य ब्रह्म है; समस्त जगतमें ब्रह्म है। इसलिये ज्ञानार्ज्जन जिनका धर्म्म है उनको ब्राह्मण कहते हैं। ब्राह्मण शब्द ब्रह्मन् शब्दसे निष्पन्न हुआ है।

कर्म्मको तीन श्रेणीमें बांट सकते हैं। किन्तु उसके समझनेके लिये कर्म्मके विषयको अच्छी तरह समझना होगा। जगत्में अन्तर्विषय है और बहिर्विषय है। अन्तर्विषय कर्म्मके विषयीभूत नहीं हो सकता। बहिर्विषय ही कर्म्मका विषय है। उस बहिर्विषयमेंसे थोड़ा हो चाहे सभी हो मनुष्यके योग्य है। मनुष्यका कर्म्म मनुष्यके भोग्य विषयको ही आश्रय करता है वह आश्रय तीन प्रकारका है, यथा—(१) उत्पादन (२) संयोजन या संग्रह और (३) रक्षा। (१) जो लोग उत्पादन करते हैं वे कृषी धर्म्मी हैं; (२) जो लोग संयोजन संग्रह करते हैं

---

* कोमत प्रभृति पाश्चात्य दार्शनिक गण तीन भागोंमें चित्तपरिणतिको विभक्त करते हैं। Thought feeling Action यह ठीक है किन्तु Feelling अन्तमें Thought या Action ही आता है इसलिये परिणामका फल ज्ञान और कर्म्म कहना भी ठीक है। मैं उन्नीसवीं सदीके युरोपको भी समाजकी अपरिणत अवस्था कहता हूं।

वे शिल्प या वाणिज्यधर्म्मी हैं, (३) और जो लोग रक्षा करते हैं वे युद्धधर्म्मी हैं। इसके नाम व्युत् क्रमसे क्षत्रिय वैश्य और शूद्र हैं, क्या यह बात पाठक स्वीकार कर सकते हैं?

स्वीकार करनेमें एक सन्देह है। हिन्दुओंके धर्म्मशास्त्रानुसार और इस गीताके व्यवस्थानुसार कृषि शूद्रका धर्म्म नहीं है, वाणिज्य और कृषि दोनोंही वैश्यका धर्म्म है। अन्य तीन वर्णोंकी परिचर्य्याही शूद्रका धर्म्म है। आजकल देखते हैं कि कृषि प्रधानतः शूद्रका ही कर्म्म है। किन्तु अन्य तीन वर्णोंकी परिचर्य्या भी आजकल प्रधानत; शूद्रका ही धर्म्म है। जब ज्ञानधर्म्मी, युद्धधर्म्मी, वाणिज्यधर्म्मी या कृषिधर्म्मीके कर्म्मका इतना बाहुल्य है कि तद्धर्म्मी अपने वैदिकादि दरकारी कर्म्म करनेका अवसर नहीं पाते तब कुछ लोग उनके परिचर्य्यामें नियुक्त होते हैं। इसलिये (१) ज्ञानार्ज्जन या लोकशिक्षा, (२) युद्ध या समाजरक्षा, (३) शिल्प या वाणिज्य, (४) उत्पादन या कृषि और (५) परिचर्य्या, ये पांच प्रकारके कर्म्म हैं। भगवद्गीताकी टीकामें मैंने जो लिखा है उससे उतना जो उद्धृत कर दिया है। यहां स्मरण रखना चाहिये कि सब तरहके कर्म्मानुष्ठानके लिये अनुशीलन दरकार है। अलबत्ते जिसका जो स्वधर्म्म है अनुशीलन उसके अनुरूप हो तो स्वधर्म्मका सुपालन नहीं होगा। अनुशीलन स्वधर्म्मानुवर्ती होनेका यह अर्थ है कि स्वधर्म्मके प्रयोजन अनुसार वृत्ति विशेषका विशेष अनुशीलन चाहिये।

सामञ्जस्य रखकर वृत्तिविशेषका विशेष अनुशीलन कैसे हो सकता है यह शिक्षा तत्त्वके अन्तर्गत है। इसलिये इस ग्रन्थमें उस विशेष अनुशीलनकी बात नहीं लिखी जाती। मैंने इस ग्रन्थमें साधारण अनुशीलनकी ही बात कही है क्योंकि वही धर्म्मतत्त्वके अन्तर्गत है; विशेष अनुशीलनको बात नहीं कही क्योंकि वह शिक्षातत्व है, दोनोंमें कुछ विरोध नहीं है और हो नहीं सकता, यही कहनेका मेरा प्रयोजन है।

इति।